

परिंदे का इंतजार- सा कुछ



नीलाक्षी सिंह

हिन्दी
A D D A

परिंदे का इंतजार-सा कुछ

नसर को लगातार धुन में साँसें लेते जाने पर एतराज था और मैं साँसों को हर बार बेवजह छोड़ दिये जाने के खिलाफ था। हम दोनों में देखा जाए तो फर्क यहीं था।

खुशक गर्मियों के ठीक बाद के दिनों की शुरुआत थी। रह रह कर दरख्तों में कोई एक नम्रजान पत्ती काँप उठती। लंबी कतार में शाख विशाख हो फैले कचनार के नीचे मुझे पहली बार दिखा था, शिरीष। मैं, नसरीन अख्तर... मेरी उमर तब बाईस साल, चार महीने, सत्रह दिन। ये साल, ये महीने, ये दिन... सब कैद हो जाने चाहिए तारीख में... वजह... यहीं से मेरी जिंदगी पलटी खाती है।

मैं चलती-चलती बुरी तरह लँगड़ा गयी थी। दाहिनी एड़ी मुड़ी पड़ी थी और सैंडिल की हील लचकी जान पड़ी। मैं झुक कर ठोंक-पीट मचा कर हार चुकने के बाद उस अपनी जगह से पूरी तरह हिल चुकी चीज को हाथ में लेकर फर्स्ट एंड की किस्म का कुछ कर ही रही थी कि मेरे साथ खड़ी भली-सी लड़की मनी को किसी मर्दानी आवाज ने पुकारा। मामूली ना-नुकर के बाद पहचान निकल आयी। मनी ने शिरीष के साथ कभी दस ग्यारह साल गये पढ़ाई की थी। भली लड़की का भला परिचित नजदीकी मोची का पता थमा गया। मैं अपने पचड़े में ऐसी खस्ताहाल थी कि उसके बारे में कोई खास राय कायम किये बगैर मोची तक बढ़ गयी... हमारी ये पहली मुलाकात बगैर कुछ घटवाये, बड़े सस्ते भाव गुजर गयी थी। लेकिन अगली दफा फिर से ऐसा नहीं हुआ। उस शाम जब मैं अपनी लंबी-लंबी पलकों को लगभग रट आए कैंटीन के मेन्यू कार्ड पर नीचे ऊपर तैरा रही थी और अपने बढ़ आए नाखूनों को मेज पर लगातार घिसे चली जा रही थी तभी वो भला-सा परिचित नमूदार हुआ। मनी ने अबकी मेरी उससे कामचलाऊ जान पहचान करवायी। नाम... और फिर ये कि हम सब पड़ोसी भी थे। मैं, मनी और वह। बड़े बारीक पड़ोसी नहीं, लेकिन बमुश्किल आध पौन किलोमीटर के भीतर सिमटने वाली दूरी पर थे हम। यानी कि उस इलाके से रोज उठ-उठ कर इतनी दूर इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने आने वाले हम दो ही नहीं थे... तीसरा भी था।

'तीन ही क्यों...।' उसने पटापट दो चार नाम और जोड़ दिये।

'अच्छा...।' ऐसा कह कर आश्चर्य व्यक्त करते समय मैंने देखा कि उसकी उँगलियों के नाखून बड़े भीतर तक धँसा कर काटे हुए थे। साँवला हाथ, बड़े भरे बाल... ऊपर... मैंने झट से मुँह फेरा और फिर से एक बार कहा, 'अच्छा।'

मनी उतनी हैरत नहीं करना चाह रही थी। वह अपने में गुम सी रही... इस बात पर। लेकिन फिर बातें हल्की-फुल्की निकलती रहीं। जैसे कि फैंकल्टीज की, विश्वविद्यालय की। जैसे छात्रसंघ की, शहर की, हमारे अपने मुहल्ले की, सीरियल्स की, वर्ल्ड कप की...।

'आपने पहले कभी चाय पी है?'

'मैंने अपने लिए चाय नहीं मँगवायी थी। सवाल से मेरा संतुलन बिगड़ा लेकिन मैंने कमान कस ली -

'अपने ऐसे पूछा गोया पूछना चाह रहे हों... आपने कभी चेखव की कहानियाँ पढ़ी हैं?'

'चलिए सवाल सुधार लेता हूँ... आपने कभी चेखव की कहानियाँ पढ़ी है?'

'हाँ तो...। वरना नाम कैसे जानती?'

'अच्छा...। नाम जानने का मतलब है पढ़ना! चलिए मान लेते हैं।'

'वैसे तुम चाहो तो इस इतवार मैं तुम्हें ऐसी जगह ले जा सकता हूँ, जहाँ से लौट कर आना तुम पसंद नहीं करोगी।' वह फिर से एक बार मुस्कुराया। सिर नीचे झुका लेने की हरकत। उस हरकत को मैं देर से नोटिस किये जा रही थी। अभी मैं अपनी तमतमाहट की चीड़फाड़ भी नहीं कर पायी थी कि इसने सारे टेंशन को मंतर फूंक कर उड़ा दिया। पलक झककते। मैं मुस्कुरायी।

'ठीक है।'

'जुम्मा जुम्मा मैं क्लास में आयी थी। लड़कों को कम ही पहचानती थी। शिरीष से ही जरा-मरा बातें हुई थीं। बाकी सबके लिए मैं रूखे चेहरे वाला लिबास चढ़ाये रहती थी। हाँ लड़कियाँ थीं - नौ। उन सबसे हेलमेल थी। मनी की तो बात ही और थी।

शिरीष एकदम लफंदड़ किस्म का था। भर क्लास में। रफ्त-गफ्त... हो हल्ला... हंगामा। सबसे बातें कर लेता। सबको टोक देता। सबके साथ हँस लेता। मैं इन सब हरकतों को जाहिर था, बड़ी गिरी नजरों से देखती। गंभीरता जो मुझे हमेशा खींचती थी उसकी यहाँ सरासर कमी थी। उसको लेकर मैं बड़े अजीब तरीके से रिएक्ट करने लगी। मसलन वह जब किसी से हँस-हँस कर बातें कर रहा होता तो मुझे गुस्सा आता... किसी से भी। चाहे वे लड़के ही क्यों न हों, चाहे मैं ही क्यों न होऊँ। मैं बुरे सलीके से मुँह चढ़ा कर उसे आधा-अधूरा जवाब देती या फिर नजरअंदाज ही कर देती उसके किसी सवाल को। जब वह चलती क्लास के बीच में ज्यादा कुछ बोलने लगता, तो मैं जहाँ बैठी रहूँ, वहीं से उसे घूर देती। माने यह कि जब भी वह खुश होता तो मैं ये जरूरी समझती कि अपनी नाखुशी जाहिर करती चलूँ। ऐसा बस उसी के मामले में होता। तो बात उलझ रही थी। ऐसे मैं ही एक इतवार वाले दिन मैं बाजार से वजनी

वजनी दो झोले उठाये चली आ रही थी, जब कि शिरीष मिल गया। मेरा चेहरा लाल पड़ रहा होगा जरूर, और साँसें खिंच रही थीं। वह मुझे देखते ही सामने की दुकान से तीर की तरह निकल कर आया और बगैर भूमिका के मेरा झोला मेरे हाथ से अलग करने लगा। मुझे इस पैगंबर किस्म की हरकत से बड़ी नफरत हुई और मैंने झोला खींच लिया।

साँसें चढ़ी थीं ही, मैंने, 'क्या है?' पूछा।

'अरे... मैं ले चलता हूँ।' वह झोला दुबारा खींचने लगा।

'क्यों?' मैंने इतने दम से झोला खींचा कि खुद ठेला गयी पीछे की तरफ और उसका हाथ झटक गया।

'हो जाएगा मुझसे।' मैं सरपट आगे बढ़ गयी।

न दुआ, न सलाम, न शुक्रिया, न माफी। कोने की नजर से दिखा कि उसके चेहरे का रंग मेरे चेहरे जैसा हो चुका था। ऐसे ही...। क्लास के बंदे से... और जरा पहचान वाले बंदे से इस तरह पेश आ चुकी थी मैं। थोड़ी दूर आकर रिक्शे पर बैठी तो बड़ी उत्तेजना-सी हुई। फतह और सुकून का अहसास। पर साँसों के नार्मल होने पर हल्का-सा लगा कि कुछ ज्यादा ही कर आयी थी। ऐसे तो किसी को बात चुभ भी सकती थी। लेकिन तब मेरे हाथ में कुछ न बचा था। मैंने गर्द की तरह इस हादसे को झाड़ दिया। अगले रोज ये तय था कि वह क्लास में मुझसे उखड़ा रहेगा। लेकिन हुआ क्या था? कोई फरक नहीं। तो क्या ये हजरत मुझे ही शर्मसार करने पर आमादा था? मैंने हैरत किया पहले, फिर तय किया कि शर्म करने को तो सारी जिंदगी बची है। अभी शर्म का बोझ क्यों सहा जाए। बस मैं ढिठाई पर उतर आयी। और मजे की बात ये कि मेरी ढिठाई उसे भी ढीठ बनाती। यानी मैं शर्म छोड़ कर बेअदबी करती जाऊँ और वह मान छोड़ कर उसे नजरअंदाज करता चले। हालाँकि एक रोज जब मेरा मूड जरा सही था और मैं हल्की-फुल्की बातें भी कर रही थी, तब जरूर उसने उस बात का बड़े लिहाज से जिक्र छोड़ा और ये जोड़ा - 'फर्ज करो तुम मेरे साथ कहीं जा रही हो और हमारे पास पाँच लगेज हों, तो क्या करेंगे ... दोनों मिल कर उठाएँगे न! तुमने उस रोज बस ईगो पर ले लिया था।'

मैंने फौरन जिरह की - 'मैं तुम्हारे साथ जाऊँगी ही क्यों, पाँच बक्से लेकर...!'

'मान लो... मान लो... कभी जाना हुआ... बस फर्ज करो...'

'अरे जो मुमकिन ही नहीं, उसे फर्ज क्यों कर लूँ? क्यों जाऊँगी मैं भला तुम्हारे...'
बस। चक्का यहीं आकर रुक जाए। अब बात आगे बढ़ती तो क्या बढ़ती। वह बौखला कर चुप हो गया। लेकिन मुझे मीठा-सा अहसास हुआ। उसका चुप होकर सिर झुका लेना...। उसकी इस अदा ने मुझे उकसाया... और बेअदबी करने के लिए। यह और बात थी कि इसी समय मेरे भीतर अच्छे-अच्छे ख्याल जगे और उसके दोनों गालों को नोंच लेने को दिल चाहा। एक गदबद... खफा बच्चा जैसे सिर झुका कर बैठा हो। आह!

चोरी छिपे अब उसमें मेरी खास दिलचस्पी जाग उठी थी। वह कब क्या करता है, किससे ज्यादा ताल्लुकात हैं, आदतें क्या हैं उसकी, चाहतें...। अब मुझे ऐसा भी लगने लगा कि वह चलती क्लासेज में जब मेरे बराबर या पीछे बैठा होता, तो मुझे ही ताका करता था। मैं अक्सर इस फिराक में रहने लगी कि इस ताके जाते वक्त अचानक उसकी ओर पलट जाऊँ और उसे चौंका डालूँ। क्या करेगा तब वह... गरदन चट पलट लेगा कि रह जाएगा ताकता...? लेकिन बस इस ताक में लगी भर रह पाती थी मैं, कभी सच में ऐसा कर डालने की हिम्मत नहीं जुटी। ऐसा पक्का कलेजा होता कि किसी के देखते जाने को झेल पाती तो फिर बात ही क्या थी। कोई ताकत नहीं बचती मेरी कहानी में। दिन ऐसे ही बातों-बातों में निकलते जा रहे थे कि एक रोज, जब सूरज उफान पर था और गर्म हल्की हवा चल रही थी, उसने मुझे गर्ल्स कामन रूम से दस कदम पीछे रोक लिया।

'कल मेरे साथ एक जगह चलोगी?'

मैं पलकें झपकाना चाह रही थी। फिर ख्याल बदल कर उन्हें तरेरे रखना ही सही लगा। तो तरेरी आँखें भी सवाल पूछती ही लगती हैं। इसलिए उसने फिर से कहा, 'कल इतवार को। उस जगह। तुम्हें पसंद आएगी।'

'न आयी तो'

'न आयी तो... न आयी तो हम लौट आएँगे।'

मैं हँसी। कुहासा बड़ी तेजी से फट गया। उसकी आँखें चमकीं। तभी उसकी हँसी थमी और उसने सिर झुका लिया।

'जगह कौन सी है बताओ तो...'

'कल...'

'नहीं अभी।'

'अभी।'

'हाँ अभी।'

बस वह ढह गया, इस बूँद भर जिद पर।

'पुरानी बाजार में चौक पर... गुरुद्वारे के पीछे... इतवार को वहाँ किताबें थोक भाव में मिलती हैं। जैसी चाहो। जहाँ की चाहो। देसी विदेशी सब...। लिटरेचर का खजाना।' वह मुस्कुराया फिर से। मुझे हैरतअंगेज अचरज हुआ। उसने जो जानकारी दी उस पर, और उससे बढ़ कर उसके भोलेपन पर। घुमाफिरा कर बात कल पर टाल भी सकता था मूर्ख और कल मुझे सरप्राइज दे सकता था। ऐसा भी क्या सीधापन कि एक छोटे से राज की हिफाजत न की जा सके। वह भी एक रोज के लिए। इतवार दो बजे दोपहर का वक्त तय कर दिया उसने। मेरी रजा ले ली गयी। जगह वही, चौक।

अगला दिन। इतवार। तीन बजे तक वक्त ने अपने को खींच लिया। मैं न हिलने का मंसूबा बना चुकी थी। खुरपी से बगीचे की मिट्टी उलटपुलट रही थी। जिंदगी एकरस सी कैसी सख्त हो जाती है... बंजर। फिर कुछ हादसे उसमें छोटी छोटी तोड़फोड़ मचा दें तो बुराई हो जाती है और जिंदगी में नयी जान आ जाती है। यह ताकत है जो जिंदगी को निखार देती है। इंतजार चल रहा होगा। मुमकिन था यही खुराफात उसके मन में भी समा गयी हो और उसने भी गोल कर दिया हो जाना। लेकिन जगह खोज कर लाया था दिलचस्प। मैंने ज्यादा कुछ पढ़ा न था, पर पढ़ने की तमन्ना थी। अरे... उसने बुलाया था तो नहीं जाना तय किया था, ये थोड़े न तय किया था कि उस जगह ही नहीं जाना है। तो फिर देरी क्यों? मैंने जल्दी जल्दी हाथ से मिट्टीविट्टी झाड़ी और तैयार हो गयी।

वहाँ सचमुच अम्बार लगा था। हर तरह की किताबें थीं। ऊलजुलूल पाकेट बुक्स टाइप ज्यादा। पाठ्यक्रमों की भी ढेरों... सारी पुरानी। उसी में कहीं तुर्गनेव पड़े थे तो कहीं बोर्खेज... कहीं वर्जीनिया वुल्फ तो कहीं रिल्के...। कहीं शरतचंद्र तो कहीं निराला। कहीं यशपाल तो कहीं दिनकर। लेकिन यही था, आँखें फाड़ फाड़ कर चारों तरफ नजर मारिए तब कोई एक किताब झिलमिलाती दिख जाएगी। लोग कहीं घुटनों के बल बैठ कर, कहीं खड़े खड़े ही झुक कर किताबें तलाश रहे थे। मुझमें यह

सब देख कर उत्तेजना भी आयी, खुशी भी और बेसब्री भी। मैं लगन से नजरें फैला कर किताबों को तौलने लगी। बहुत बहुत दूर भटकने के बाद आँखों को च च च च चे... दिखा। चेखव की कहानियाँ। इसे तो पढ़ ही लिया जाए। मैं उस किताब पर नजर गड़ाये रास्ते में बैठ कर किताब तलाशते लोगों को धकियाते हुए उस तक पहुँच गयी। बस मैं झुकती कि किताब पर उँगलियाँ पड़ गयीं। उँगलियों के नाखून बड़े भीतर तक धँस कर कटे हुए... साँवला हाथ - बड़े भरे बाल... ऊपर... मैंने झट से अपने को पीछे किया। शिरीष किताब को हवा में लहरा कर किताब वाले से मोलभाव करने लगा। मैं बस पीछे निकलती-निकलती-निकलती-निकलती भीड़ से बाहर हो गयी। और बेतहाशा घर की तरफ। घर आकर जब धड़कनों पर लगाम चढ़ी तो लगा कि किसी ख्वाब से पीछा छुड़ा कर आयी थी। मैं जब आँखें बंद करती थी तो बस अपना झुकते जाना और किताब पर पड़ी उँगलियाँ दिखतीं। फिर मैं हड़बड़ा कर भाग आती। रात भर मैं गुरुद्वारे से घर, घर से गुरुद्वारा... चक्कर लगाती रह गयी। हासिल कुछ न हुआ। दरअसल तलाश किसी चीज की थी ही नहीं।

दूसरे रोज जब वह मिला तो उसके चेहरे पर पिछली दोपहर का कोई निशान बाकी न था। यह तो शावर के नीचे रगड़-रगड़ कर धुला ताजा चेहरा था और यदि मैं न जान रही होती कि उसके साथ ऐसा हादसा हुआ था तो इसे सूँघ सकना भी नामुमकिन था। ये और भी खतरनाक बात थी... वजह उसका 'जैसे कुछ हुआ न हो...' वाला रवैया मुझे अपने आपके साथ बेतकल्लुफ नहीं रहने दे रहा था। अपने पर बिना किसी वजह शर्म आने वाली बात थी। वाक्यों से उसकी बेरुखी पर सोचती थी तो लगता था कि वह जानबूझ कर मुझे गिल्ट जैसा कुछ अहसास तो नहीं करवाना चाह रहा था। लेकिन इसी ख्याल के विपरीत भी एक ख्याल सामने खिंच जाता था... वह मुझसे सोचवा लेता था। मुझे अहसास होता कि मेरे भीतर गर्म आँसुओं की ताकत और मुलायमियत वाली चीज मौजूद थी पहले से, लेकिन उसके ऊपर सीमेंट के पत्तर-सी पतली, कठोर नाकेबंदी थी। इसी में आड़े तिरछे दरार बनाता जा रहा था वह। उन दरारों से रिस आयी बूँदें थीं जो मुझे रात भर गुरुद्वारे से घर, घर से गुरुद्वारा दौड़ाती थीं। जिस रोज वह दरार दरक गयी पूरी की पूरी, उस वक्त मेरी पिछली पहचान बह जाने वाली थी। ऐसे ही, सोच से भरी, एक सुबह यूनिवर्सिटी के मेन गेट से दाखिल हुई। वहाँ से डिपार्टमेंट तक बड़े-बड़े कचनार के पेड़ कतार में मौजूद थे। पीछे से तेजी से आकर वहीं उसने मेरे कदमों को पकड़ा और मेरे साथ हो लिया। हम इत्मीनान से बढ़ने लगे। उसने पहले कहा, 'सर्दी जोर से पड़ रही है, नहीं?'

मैंने कहा, 'उतनी ठंड तो नहीं है... हाँ!'

उसने कहा, 'क्लासेज धूप में होतीं तो मजा आता?'

मैंने कहा, 'धूप क्लास में उगती तो मजा नहीं आता।'

उसने मुझे देखा फिर कहा, 'इंसान जैसा दिखता है, वैसा होता नहीं है।'

मैंने कहा, 'कभी-कभी इंसान दिखता नहीं है, लेकिन होता है।'

उसने कहा, 'क्या तुम 'इरोड' से आयी हो?'

मैंने कहा, 'मुझे अकेले छोड़ दिया जाए तो मैं वहाँ तक नहीं लौट सकती।'

उसने कहा, 'हमारे आसपास की दुनिया बड़ी तेजी से बदलने जा रही है।'

मैंने कहा, 'क्या दुनिया कभी हमें बदल पाएगी'

उसने कहा, 'खुद को बदल देने के विकल्प से बचना अपने ऊपर विश्वास की बड़ी कमी को दर्शाता है।'

मैंने कहा, 'दूसरे को बदल देने के विकल्प को चुनना अपने आप पर जरूरत से ज्यादा भरोसा झलकाता है।'

उसने कहा, 'दुनिया के रस्मोरिवाज इंसान बनाता है, ये कोई ऊपर से आयी चीज नहीं।'

मैंने कहा, 'दुनिया के रस्मोरिवाज इंसान को बनाते हैं, ये अंदरूनी बात है।'

उसने कहा, 'मैं साँसों को हर बार बेवजह छोड़ दिये जाने के खिलाफ हूँ।'

मैंने कहा, 'मुझे लगातार धुन में साँसें लेते जाने पर एतराज है...'

उसने कहा, 'हम बातों बातों में डिपार्टमेंट तक पहुँच गये।'

मैंने कहा, 'क्या तुम फिर से एक बार मेरे साथ इस रास्ते को तय करना चाहोगे... अभी।'

उसने पूरी तरह पलट कर मुझे देखा। उसकी आँखों में जलने से ठीक पहले की चिनगारी थी। मुझे अपनी आँखों में पिघलने के ठीक पहले के बर्फ की चुभन महसूस

हुई। हम पलटे। यकीन मानिए हम बेआवाज, बेगानों की तरह वापस यूनिवर्सिटी में गेट तक आए और तब हम पलटे, दुबारा। उसी रास्ते पर।

उसने कहा, 'हमने अंत कहाँ पर किया था?'

मैंने कहा, 'हमारे बीच का सब कुछ शुरुआत से ठीक पहले का मुकाम है...'। हम हँसे।

'तुम्हें हमारा दोस्त बनना कुबूल है?' मैंने कहा।

'कुबूल।' उसने कहा।

मैं मुस्कुरा। फिर मैंने कहा, 'क्यों जी उस रोज मुझे तुम एकदम अच्छे नहीं लगे थे। लाओ तुम्हारा थैला पकड़ लूँ...। क्या मैं बेजान थी कि अपाहिज, हूँ।'

'अरे... तुम्हीं कौन सी हूर लग रही थी उस दिन, जब हर बात पर नाक सिकोड़ रही थी।'

'किस रोज?'

'उसी दिन! पहले दिन। चाय अच्छी नहीं लगती... काफी हूँ...। ये चीज सही नहीं... वो तो एकदम गलत।'

'जाओ जाओ। क्यों और उस दोपहर हमें गुरुद्वारे के पीछे बुला कर कहाँ गायब हो गये थे जैसे तुम्हारे बगैर मैं वहाँ कुछ छॉट ही न पाती...।'

'अच्छा मैं गायब हुआ था। उस दिन आ जातीं वहाँ तो महारानी का खिताब जो छिन जाता।'

'मेरा मन! जहाँ मन आऊँ। जहाँ मन जाऊँ।'

'तुम अच्छी हो।'

'तुम अच्छे नहीं हो।'

'तुम फिर भी अच्छी हो।'

'तुम फिर भी अच्छे नहीं हो।'

'इससे क्या हुआ? तुम अच्छी हो।' उसने कहा।

'इससे बहुत कुछ हुआ। तुम भी अच्छे हो।' मैंने कहा।

'हम डिपार्टमेंट तक आ गये।' उसने कहा।

'अब हम इस रास्ते पर अपने को तिहरा नहीं सकते।' मैंने घड़ी देखते हुए कहा।

एक खूबसूरत अहसास था। एक दोस्त। जिंदगी में पहला मर्द दोस्त। मर्द कहने में परेशानी लगती थी। लेकिन हकीकत यही थी। वह मर्द था लेकिन फिर भी अपने हाथों दोस्त बना लिया गया था। उसका होना मुझे सहेजने लगा था। उसके होते यह ख्वाहिश होती थी कि उससे उलझा जाए। उसके न होने पर अफसोस भी होता झगड़े का, हँसी भी आती और फिर से झगड़ने का बहाना भी वहीं से हाथ आता। उसके होने पर मैं उसकी हर बात को काटती और उसके न होने पर हर बात को जोड़ती। उसके होने पर मैं उसके पहले न होने की वजह पूछती और उसके न होने पर, उसके तब होने को परखती। उसके होने पर मैं बच्ची बन जाती और उसके न होने पर उसकी माँ बन जाती।

उन्हीं दिनों देखते देखते एक छोटामोटा ग्रुप बन गया। सात लोगों का। ग्रुप का नाम - 'नासमझ'। तीन लड़के, चार लड़कियाँ। सबके नाम के अंग्रेजी के पहले अक्षर के मेल से बना - 'नासमझ'। नसरीन, अतुल, शिरीष, मनी, अनन्या, ज्योति और हर्ष। मनी के बारे में पहले बता चुकी। अनन्या अमीर घर से ताल्लुक रखती थी और बैडमिंटन की अच्छी खिलाड़ी थी। ज्योति बड़ी उजली, लेकिन जरा मोटी। बगैर कपट के शांत हँसी हँसने वाली लड़की। तीन लड़कों में एक शिरीष, एक हर्ष जो बेहद चुप्पा था और एक अतुल, वह इतना भोला था कि मैं उसे दिन में सात बार के औसत से उल्लू बनाती थी। हम लोग ब्रेक में, लंच में, शाम में, सुबह में... अक्सर मिल लेते। एक रोज जब हम क्लास खत्म होने के बाद मैदान में छितर-छितर कर बैठे थे बेमकसद... तो शिरीष मेरे पास खिसक आया। उसने पूछा, 'तुमने कभी परिंदों के पैरों की पोजीशन पर गौर किया है, जब वे उड़ रहे होते हैं?'

'नहीं तो!'

'देखो आज देखो इत्मीनान से। तुम्हें क्या लगता है?'

'इतने ऊपर उड़ रहे हैं। मुझे नहीं दिखता। तुम पागल हो।'

'तुम बेवकूफ।' उसने कहा।

'अब गर्मी नहीं पड़ती कि हाफ आस्तीन पर ही टिके रहो। पूरे आस्तीन की कमीज पहन लेते तो कम जँचने का डर था क्या?'

'बस... सुबह से मैं राह देख रहा था। तुम कुछ कहती क्यों नहीं... अभी टोक दिया तुमने... अब हाफ शर्ट पहन कर ठंडक में काँपते हुए आना सफल हुआ।'

बस। मैंने मुँह चढ़ा लिया। वह चुप बैठा रहा कुछ देर। फिर उसने कहा, 'वो देखो... वो... उस मैना का नाम नसर है, जिसकी नजर कमजोर है, जिसे नहीं दिखता कि परिंदे उड़ते वक्त अपने पैरों का क्या करते हैं। न...स...र... नसरीन अख्तर...।'

मेरे सीने में कुछ तेज-सा चुभा और मैंने उसे कस कर हथेली से दाब दिया और घुटनों पर झुक गयीं।

ये खबर लपट की तरह बढ़ चली थी कि दो साल बीते जिस बूढ़े हिंदू ने काठ के रथ पर सवार होकर एक मस्जिद के विनाश के लिए कमर कस ली थी, वही, उस बार असफल हो जाने पर, अब एक बार फिर... अपने तीर तरकश इकट्ठा कर रहा था। उस मस्जिद का ढह जाना उतना ही जरूरी था, जितना कि उसका न ढहना। मस्जिद के ढहने, न ढहने - दोनों स्थितियों में खून का बहना तय था। लोगबाग अपनी नस्ल का खून पहचानते थे और वे दूसरे गुटों से खींच-खींच कर अपनी नस्ल वालों को अपने पास जमा कर लेना चाहते थे, ताकि इकट्ठे रह कर वे अपने खून को बचा सकें। ...वह मस्जिद कभी भी ढहायी जा सकती थी, उनके हाथों, जो अपने को कारसेवक कहते थे। बस लोग दिल को पकड़ कर उसी घड़ी का इंतजार कर रहे थे। क्योंकि उसके बाद या तो उनके खून का रहना तय था, या उनके खून के प्यासों के खून का। मैं उसी जहरीले समय में साँसें खींच रही थी। आप सोचेंगे ये कैसी लड़की है जो बस अपनी बातें करती है। न घर की बात, न परिवार की बात, न समय की बात, न समाज की बात, न दोस्तों की बात, न बिरादरी की बात। बस अपनी और एक खास इंसान की बात, दरअसल मैं इन दोनों की बात नहीं करती। यदि वह मेरी जिंदगी में आया न होता तो मैं किसी की भी बात नहीं करती। तब यकीनन मेरी जिंदगी में सब कुछ बेखास ही होता। शिरीष ने मुझे अपने आप से जोड़ा। और तब मैं अपनी दुनिया से अपने को जोड़ रही थी। देखूँ तो ये दुनिया है कैसी शुरुआत अम्मी से ही...।

बचपन का एक खासा दिलचस्प और अहम सबक था - अपने आस-पड़ोस की किसी ढंग से पहचानी चीज पर पाँच वाक्य लिखने का सबक। पाँच वाक्य ऐसे हों, जो उसके बारे में पूरी-पूरी इत्तला दे सकें। यदि वही सबक मुझे आज दिया जाए और अम्मी को पाँच लाइनों में निपटाना हो तो... अम्मी बोलना चाहती हैं। अम्मी चुप रह कर बोल जाती हैं। अम्मी को हालाँकि बोलने का ये तरीका पसंद नहीं है। लेकिन अम्मी को इस बात का अहसास नहीं, क्योंकि पसंद नापसंद क्या चीज है उन्हें मालूम नहीं। अम्मी की इस चुप्पी को तमाम लोग उनका घमंड मान बैठते हैं...

अम्मी को लोगों की परवाह कम थी। इसलिए वह फिर भी चुप ही रहती थीं। अम्मी तभी मुस्कुराती थीं, जब सामने वाला इंसान आधी दूर तक हँस चुका होता और अम्मी को ऐसा अहसास हो जाता कि उनके न मुस्कुराने से उसे तकलीफ पहुँचेगी। एक दिन जरूर इस बीच में मैंने अम्मी को खूब मुस्कुराते और हल्का गुनगुनाते हुए सुना था।

लेकिन वह सब थोड़ी देर की चीज थी क्योंकि फिर तब अम्मी को याद आ गया था कि उस रोज अब्बू की शहादत हुई थी। अम्मी के हाथों में तभी उनकी पुरानी नथ थी और वे उसकी मोतियाँ गिन रही थीं। अब्बू की शहादत वाले रोज घर में एक शाम खाना नहीं बनता था। अम्मी भरे शाम अपने को कपड़े से ढँक कर सुबकती थीं और अपनी अलमारी से मिट्टी का एक गुल्लक निकालती थीं। उसे फोड़ती थीं और उसके पैसे गिनती थीं। फिर उन एक-एक रुपये के तीन सौ पैंसठ सिक्कों को नोटों में बदला जाता और एक लिफाफे में धर कर वे उसे तिजोरीनुमा बक्से में डाल देतीं। फिर अगले रोज से एक नया गुल्लक रखा जाता और उसमें रोज एक रुपये का सिक्का अम्मी डालती जातीं। अट्ठारह साल गुजर चुके थे। ऐसे ही। अट्ठारह साल गये, अम्मी अब्बू शहर के दूसरे छोर पर रहते थे। इन दोनों ने घर वालों की मरजी के बगैर शादी की थी। इसलिए अब्बू को उनके अब्बू ने बेदखल कर दिया था।

अब्बू इकलौती औलाद थे। उनकी अम्मी थीं नहीं। अब्बू ने किसी किसी तरह जुगाड़ भिड़ा कर तिजारत शुरू की। उनके पार्टनर थे सलीम मियाँ। जैसे ही कुछ पैसे आने शुरू हुए और जड़ जमती नजर आयी कि सलीम मियाँ ने एक गल्ले के व्यापारी के साथ मिल कर अब्बू का पता साफ कर दिया। वह चिलचिलाते जेठ का महीना था। रोजा खत्म हुए बस तीन दिन हुए थे। शाम ढलती जा रही थी। अब्बू का पता न था। दोपहर के खाने के वक्त से जो उनका इंतजार शुरू किया अम्मी ने, वह गये रात तक चलता रहा। तब अचानक दरवाजे पर मजमा लगा। एक गुमनाम आदमी अब्बू की

देह लाद कर लाया था। पता अब्बू की डायरी ने दिया। अम्मी के पास इतनी सहूलियतें भी न थीं कि वे अपना होश खो पातीं। घर में जरा से रुपये थे। खबर फैलते ही पुलिस आ गयी और पड़ोसी अपने घरों में दुबक गये। अम्मी ने दरोगा के पैर पकड़ लिये और तब तक नहीं छोड़ा, जब तक अब्बू का जनाजा न उठ गया। अम्मी के पास कुछ भी न बचा था। तब उन्होंने अपनी मेहनत बेचनी शुरू की। उससे मेरी परवरिश की और बचे हुए पैसों से चुप्पी खरीदनी शुरू कर दी। लेकिन एक कायदा उन्होंने कभी नहीं छोड़ा - अब्बू के इतकाल के बाद से वह हर रोज गुल्लक में रुपये का सिक्का डालती जातीं। वे नहीं चाहती थीं कि उन्हें या मुझे कुछ हो तो जनाजे का इंतजाम खैरात के पैसों से हो। ये सब चलता रहा... तब भी जब आखिरी वक्त में अब्बू के अब्बू को अपनी गलती का अहसास हुआ और उन्होंने हम दोनों को अपने घर यानी पुरखों के इस मकान में बुला लिया। अम्मी आने को हरगिज तैयार न थीं। पर मेरे आने वाले दिनों को सोच कर उन्हें यहाँ आना पड़ा।

अम्मी को इस मकान से कोई लगाव न था। वे इस इमारत में बेगानों की तरह रहतीं। यहाँ की चीजों में दिलचस्पी पैदा करने की उन्होंने कभी कोशिश भी नहीं की। वे मुझे सलामती से बढ़ता हुआ देख कर भी निहाल नहीं हो पातीं। एक सुराख जो उनके मन में कभी बन चुका था, उन्हें किसी चीज से जुड़ने नहीं देता। चाहे वो चीज उनकी इकलौती औलाद ही क्यों न हो। हम दोनों में दुनियादारी की तमाम बातें होतीं पर दिल का हिसाब किताब हमारे दरम्यान नहीं होता। अम्मी जितनी खोलें बेरुखी की, अपने ऊपर चढ़ाती जातीं, उतनी ही खोलें मेरे लिए भी छोड़ती जातीं और तब मेरे पास उन खोलों को अपने ऊपर ओढ़ लेने के सिवा कोई चारा न होता।

अम्मी की कोई दोस्त न थी, न कोई राजदार। वह कभी खुशी का इजहार न करतीं, तो कभी गम को भी नहीं सँजोतीं। कभी-कभी जब उनके पास परेशानियों का हुजूम इकट्ठा हो जाता, तो वे चुपचाप खिड़की से लग कर खड़ी हो जातीं। घंटे दो घंटे... एकदम चुप... और वहीं से वे मैदान मार कर लौटतीं। परेशानियों को दफन कर।

मैं भी अम्मी के ही साँचे में ढल चुकी थी। न कोई साथी, न संगी। मुझे कोई चीज खुश नहीं कर पाती, न दर्द ही होता किसी बात का। और यह एक हैरत वाली बात थी... यह तब महसूस हुआ जब मैं बदल गयी...।

अभी पिछले जाड़े की बात। एक सुंदर कढ़े शाल पर मेरी नजर पड़ गयी। उसे ले आयी और अम्मी से पूछा, 'क्या आप इसे रखना चाहेंगी?' अम्मी ने शाल की कढ़ाई पर उँगली फिरायी और उसे अपनी अलमारी में रख दिया। मैंने उसी समय से उसे अम्मी

की चीज मान लिया। अम्मी अपने लिए एक जोड़ी हेयरपिन खरीद लायीं। एक दिन जब वे उन्हें उतार रही थीं, मैंने कहा कि ऐसी चलन की क्लिप कम उम्र की लड़कियाँ लगाती हैं। मैंने उन्हें उठा कर अपने बालों में लगा दिया। उस दिन से वे मेरी हो गयीं और अम्मी उन्हें बिल्कुल भूल गयीं। सब कुछ सुलझा हुआ और तरतीब से था हमारे बीच। किसी जिद, ना-नुकर, मानो-मनौवल के लिए जगह नहीं छोड़ी थी हमने।

अम्मी आँखों में कपूर डाला हुआ सुरमा लगाती थीं, सोने के पहले और रात भर ठंडे ख्वाब देखती थीं। अब्बू के गुजर चुकने के बाद, मुसीबत के उन दिनों में अम्मी के काम आने वाले रहमत चचा एक दफा जब हमारे इस घर पर आए तब उन्होंने अम्मी से पूछा, 'लड़की सयानी हो गयी है। लड़कों पर नजर है आपकी?'

अम्मी ने, रात के बचे रह गये मद्धिम सुरमे वाली आँखों से उन्हें ताका। कुछ देर उन्हें देखती रहीं फिर पलकें गिरा लीं। चचा ने कहा, 'लड़की पढ़ी-लिखी, शरीफ है आपकी, और अब आपके पास दौलत की भी कमी नहीं।' आगे वे कुछ कहना चाहते थे, पर रुक गये। अम्मी ने फिर से भरपूर ताका उन्हें। नजरें हटा लेने के बाद भी अम्मी चुप ही रही थीं। चचा के जाने के बाद फिर अम्मी खिड़की से लग कर खड़ी हो गयी थीं और घंटे दो घंटे बाद वे वहाँ से किसी को मात देकर लौट आयीं। मैं अपने बिछावन में आँखें बंद किये उनकी हरकतों पर नजर रखे थी। अम्मी आकर मेरे सिरहाने खड़ी हो गयीं और उन्होंने थोड़ा झुक कर मेरा माथा सहलाया। पता नहीं उन्हें मेरे जगे होने का अहसास था या नहीं।

मनी...। मनी से मेरी पहचान रास्ते में हुई थी। सुबह थी। सर्द, भारी हवा। हम दोनों अजनबी से पास पास खड़े थे। हम एक ही आटो पर चढ़े और एक ही जगह जाकर उतरे भी। हम दोनों फिर अजनबी की तरह यूनिवर्सिटी के भीतर चले जा रहे थे। मुझे तो ये बात खल भी नहीं रही थी कि हम दोनों तब से साथ थे पर चुपचाप। इसलिए बात की शुरुआत करने का सवाल ही नहीं था। मनी ने पहल की।

'आप यहीं पढ़ती हैं?'

'पहला दिन है।'

'विच ईयर?'

'बी.ई. पार्ट वन।'

'ओ...ह! हम दोनों बैच मैट्स हुए।'

बात निकली तो यहाँ तक बढ़ आयी कि उसने हमें पड़ोसी करार दे दिया। हमारे घरों के बीच बमुश्किल दस घरों का फासला होगा। मनी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थी। रोज माथे पर रोली का टीका लगाती थी और धनियापत्ती डाला आमलेट कुतर कुतर कर खाती थी। वह चार बहनों में दूसरे दर्जे की हैसियत रखती थी और रोजाना शाम साढ़े पाँच बजे से साढ़े छः बजे तक कंप्यूटर सीखने जाया करती थी। कंप्यूटर के की-बोर्ड पर उसकी उँगलियाँ सधी लय में करतब दिखातीं। यूनिवर्सिटी से घर लौटते समय रास्ते भर मनी मुझसे शगुन जरूर करवाती जाती। दो उँगलियाँ खुलतीं। मुझे उनमें से एक को पकड़ना पड़ता। कभी मेरी पकड़ी उँगली उसे चहका देती, तो कभी बुझा देती। सवाल होता - उसकी चिट्ठी आएगी या नहीं। इस बाबत मैं ज्यादा सोचती और कोई राय कायम करती, इसके पहले ही मनी ने मुझे सब कुछ बता दिया। वह मनी की पहचान वाले घर का लड़का था, जो उन दिनों दिल्ली की किसी प्राइवेट कंपनी से जुड़ा था। उसे मनी पसंद करती थी, हालाँकि लड़के के मन में क्या था, इसका पता उसके खतों से चल नहीं पाता था।

फिर भी मनी उसे लगन से पसंद किये जा रही थी। मनी के तलहथी जैसे मन में यह शख्स गहरे घुस गया था। मनी को यकीन भी था कि यदि मौका आया तो उसके घर वाले हिचकेंगे नहीं, क्योंकि लड़का विशुद्ध ब्राह्मण था, कमाऊ था और शक्लो सीरत भी सही। बस जो देरी थी, वह लड़के की तरफ से थी। और कंप्यूटर वगैरह की अतिरिक्त जानकारी हासिल कर मनी अपने को उसके लायक बनाने में जुटी थी। गर्म हवा जब हल्की-हल्की सरसराती थी और भरी गर्मी में फगुनाहट का अहसास होता था, तब मनी नजरें नीची कर बड़े सुर से हमें सुनाती थी, '...जा रे... जारे उड़ जा रे पंछी... बहारों के देश जा रे...।' हालाँकि गाना वैसा दर्दनाक न था, पर गाने के खत्म होते-होते, मेरी आँखें भर आया करती थीं और ठीक तभी मनी फक से हँस देती थी। वह हँस कर दरअसल भविष्य के उस नक्शे को दूर भगाना चाहती थी, जो उसे मेरे आँसुओं में दिख जाता था। मनी भगवान के पीछे बड़ा भागती थी। मंगलवार और शनिवार को उसके माथे की रोली नीचे खिसकती गले पर जाकर स्थिर हो जाती थी और रोली का रंग भी उन दिनों लाल की जगह नारंगी होता था। मनी को मेरे शाकाहारी होने पर भी जबरदस्त एतराज था और उसका मानना था कि शाकाहारी होने की वजह से ही मैं लड़कों के बारे में इतने जुदा ख्याल रखती थी।

मनी अपने घर की बात बताते समय थोड़ी बेईमानी कर जाती थी। उसकी बातों में सबसे छोटी बहन, बड़ी बहन, माँ, पापा, दादी... सब शामिल होते। लेकिन अपने से ठीक छोटी बहन का जिक्र वह भूले भी नहीं करती। कभी करने की सख्त नौबत आ भी जाती, तो उसे जैसे-तैसे निबटा दिया जाता बस। वह बहन शादीशुदा थी और उसने अपने से बड़ी दो कुँवारी बहनों को तड़पा कर यह पहल की थी। इस घटना को अरसा बीत चुका था और अब तो वह बजाबता ढाई तीन साल के बच्चे की माँ बन चुकी थी। मनी के ऊपर वह हादसा एक दर्दनाक निशान छोड़ गया था। उस जमाने में मनी और कामना दोनों एक साथ, एक ही गर्ल्स हास्टल में रहती थीं, घर वालों से दूर। मनी की आँखों के नीचे से कामना ने उम्र में अपने से नौ साल बड़े मेडिकल स्टूडेंट के साथ भाग कर शादी कर ली। कामना को इस बात का अहसास था कि रेलवे में गार्ड, उसके पिता जब अपनी दो बेटियों को निबटा चुकेंगे तो उनकी डाक्टर दामाद जुगाड़ने की हैसियत नहीं रह जाएगी।

वक्त गुजरने के साथ घर वाले कामना के प्रसंग को भूल चुके थे। शायद बड़ी बहन का भी ऐसा ही ख्याल था, पर मनी इसे साये की तरह चिपका कर चलती थी। वही मनी, अब खुद किसी की 'हाँ' के लिए सुधबुध खोने लगी थी। एक रोज मैंने घर लौटते वक्त उससे पूछा भी था कि अगर शेखर ने हाँ कर दी और जल्दी मचाया तो क्या मनी भी कामना की राह चल देगी। मनी ने इनकार नहीं किया कुछ। वह एकदम से चुप्पी साध गयी। मैं काँप उठी। मनी ने साँसें खींच कर कहा, 'मैं कामना-सी किस्मत वाली कहाँ!'

मैं सुन्न होकर चलती रही। मेरे घर का मोड़ आने वाला था कि मनी ने मेरी हथेली को जोर से पकड़ लिया। मेरी हथेली पसीने से नहायी, ठंडी थी। उसकी हथेली जल रही थी...।

'मैंने ऐसा सोचा भी तो वह मुझे कभी नहीं मिल पाएगा। पता नहीं मेरे मन में ऐसा पाप जागा कैसे...' कहते कहते उसकी आवाज डूब गयी।

अनन्या उतनी अमीर नहीं थी, जितनी दिखती थी। उसकी अमीरी के कई किस्से निकल पड़े थे। कुछ लोग कहते कि आदमी कैसा भी हट्टाकट्टा क्यों न हो, चाहे तो एक हाथ से उसकी माँ की सोने की करधनी नहीं सँभाल सकता था। कुछ लोग कहते थे कि बचपन में उसके पिता दिन भर में जितने कौर खाते थे, उतने चाँदी के सिक्के

नौकरों में बांटे जाते थे। ये बात जरूर थी कि किस्से सारे 'थे' से समाप्त होते। 'हैं' से खत्म होने वाली कोई कहानी चलन में नहीं थी। अनन्या पढ़ाई में गोल थी, पर अच्छा पहनावा, सजधज, मकान को खूबसूरती से सजाने वगैरह में दिलचस्प जानकारी का खजाना रखती थी अपने पास। अनन्या जैसे खूबसूरत नहीं थी, पर दिखती सुंदर ही थी, फर्स्ट हाफ में। दूसरे सेशन में, जब मेकअप मद्धम पड़ता तो वह साग-सत्तू-सी मामूली दिखने लगती। हुनर ही था उसके पास, जिससे वह अपनी दाहिनी आँख को आई लाइनर वगैरह से सवार कर बायीं के बराबर दिखला देती थी लोगों को। कम से कम दूर से देखने पर तो ऐसा ही लगता था, बहुत पास से भी...। यदि उसकी आँखों में बिल्कुल झाँक कर अपनी खोजी आँखें दौड़ायी जाएँ, तो ही उसकी नजर की कमजोरी का अंदाजा लग पाता था। एस्थेटिक सेन्स था जो लंबी बिंदी पर उसे लंबा करता और विपरीत हल्के रंग का चूड़ीदार पहनवा देता था और गोल बिंदी पर जार्जट का प्रिंटेड कुर्ता और पटियाला सलवार चुनवा देता था। उसने अपने एक तरफ के आगे के बालों की एक लट में थरथराहट पैदा करवा दी थी और उसे चटख लाल रंग में रँग डाला था। लाल घुँघुराली लट और काले बाल। लेकिन इस तरह की तमाम चलती-फिरती किस्म की अच्छाइयों और बुराइयों से हट कर एक ऐसी बात उसमें थी जो उसे अलहदा बनाती थी। दरअसल अनन्या का ब्लड ग्रुप जरा हट कर था। इसे सुन कर सारे लोग चौंक जाते और कुछ सोच कर चुप हो जाते थे। अनन्या अपने इस कीमती खून को इतनी उदारता से बाँटती चलती कि हम हैरत में पड़ जाते।

बात इधर की थी। यूनिवर्सिटी के चपरासी का जवान लड़का किसी गाड़ी के नीचे आकर अपना ढेरों खून बहा बैठा। अस्पताल पहुँचाया गया तो डाक्टर भौचक्क रह गये। गरीब का लड़का वी.आई.पी. ब्लड ग्रुप लेकर पैदा हुआ था। खून की खोज मची। एक गुहार यूनिवर्सिटी में भी लगायी गयी। लड़के की माँ वहाँ आ गयी। रोती... गिड़गिड़ाती। समाज में लोग चाहे जितने पत्थर किस्म के हों... रोती-धोती माँ असर छोड़ती है। लोग पिघलने लगे। पर सवाल खून का था। वह भी रेयर ब्लड ग्रुप। वह भी किसी प्रोफेसर या बाबू के लिए नहीं...। इन सबकी छोड़ें, बहुतों को तो अपना ब्लड ग्रुप तक भी पता न था। इसके बारे में जानने की खास जरूरत भी क्या थी इसका हिसाब तो उन्हें ही मालूम था, जिन्हें कभी खुद के लिए या नजदीकियों के लिए खून लेने देने की जरूरत पड़े। इसलिए मामला कुछ जम नहीं पा रहा था। लेकिन! बात जैसे हम तक आयी अनन्या जोश में आ गयी। उसने अपनी कलाई को आगे बढ़ा कर अपने ब्लड ग्रुप का ऐलान हमारे बीच कर दिया। हमें उस समय आगा-पीछा कुछ भी नहीं सूझा। हम सबने चिल्ला कर इस जानकारी को खबर बना दिया। लोग अनन्या

के और हमारे इर्द-गिर्द जुट गये। मजमा लग गया। जितने लोग, उतनी बातें। तभी हमारे पास जुटी भीड़ से एक लेक्चरर अनन्या को कोने में ले गये। हम भी उधर ही खिसक लिये। वे उसे ऊँच-नीच समझाने लगे - मसलन कि इस तरह डोनेट करने से खुद दुबली सूखी अनन्या की सेहत पर बुरा असर पड़ता या कि खून के इन्फेक्शन से कई बड़ी बीमारियाँ होती हैं या फिर जैसे कि बगैर माँ बाप से पूछे ऐसे फैसले नहीं किये जाते या... कोई न कोई और तो मिल ही जाएगा... किस्म की बातें। मैंने चारों ओर देखा। भीड़ में कहीं चपरासी या उसकी बीवी नहीं थे। उन्हें भीड़ ने बाहर छोड़ दिया था और अब मामला चपरासी के बच्चे को खून चाहिए नहीं... बल्कि अमीर घराने की अनन्या खून देने को बेचैन है... ये हो गया था। अनन्या समझाने बुझाने वाले को बड़ी हैरत से देखने लगी और भरसक घिन भरी उसकी आवाज निकली... हाऊ इट कैन बी पासिबल! वो मर रहा है...।

अनन्या पलट गयी। उसने चारों ओर देखा और मेरी कलाई पकड़ ली। उसके इस नाजो-अंदाज से लोग सकते में आ गये और भीड़ ने दो भागों में बँट कर हमें रास्ता दे दिया। आटो में हमारे साथ अनन्या की बगल में बच्चे की माँ थी, जो मारे खुशी के या मारे गम के रोये चली जा रही थी। रोना भी वह भले इंसानों वाला नहीं। यहाँ आँसू में लार... थूक... सब मिले हुए थे। अनन्या ने उस औरत को अपने कंधे से साट लिया। उस माँ का थूक लार वाला मीठा नमकीन आँसू अनन्या के सिल्क के कुर्ते पर तेजी से पसरता जा रहा था। अनन्या की मुट्ठियाँ बँधी थी और उसके तलुवें लगातार हिले चले जा रहे थे।

अस्पताल से सारा कार्यक्रम निबटा कर और ढेर-सा स्पंज खाकर, हम घर की ओर लौट रहे थे। आटो स्टैंड पर दोनों पहुँचे। वहाँ से हमारे रास्ते बदल जाते। अनन्या कुछ कुछ सोचती चली जा रही थी, ऐसा मैंने गौर किया था।

'न स र', अनन्या ने अपने दाहिने हाथ से एक बार फिर मेरी कलाई पकड़ी। वही दाहिना हाथ, जिससे वह बैडमिंटन से जोरदार सर्विस किया करती थी और जिससे दो बैग खून निकाला गया था।

'नसर... मैं सोच रही हूँ कि जब ये लड़का सँभल जाएगा... ठीक हो जाएगा... तो क्या ये भी उसी भीड़ का हिस्सा बन जाएगा या...'

मैं चुप रह गयी। बल्कि मैंने नजरें झुका लीं। फिर उन्हें उठाया तो देखा... अनन्या मुस्कुरायी। उसकी आँखें तो नहीं चमकीं, पर सूरज की रोशनी में उसके कुरते पर

पसरा वह मीठा नमकीन आँसू जगमगा उठा। अनन्या ने वैसे ही मुस्कुराते हुए गीले हिस्से पर उँगली फिरायी और मुझसे कहा, 'इससे घिन नहीं आ रही मुझे...' अनन्या फिर से एक बार मुस्कुरायी...।

ज्योति की बात कहाँ से शुरू की जाए... देखें तो हम सबमें सबसे अजीबोगरीब बातें उसके साथ ही जुड़ी थीं। माँ अपाहिज, पिता रिटायर। सात भाई बहनों में सबसे बड़ी ज्योति। खुद उसकी किस्मत का अजूबा ये कि शादी से एक दिन पहले दूल्हा गुजर गया। हमने जब सुना तो भले कहा... कि ज्योति बच निकली। पर जमाने ने तो ऐसा नहीं कहा। बात खुली तो तसवीर सामने आयी कि ज्योति की जन्मकुंडली के पहले खाने में मंगल देव विराजमान थे। ज्योति घनघोर मांगलिक दोष से युक्त थी, जबकि दूल्हा निर्दोष था। जबरदस्ती की मिलायी गयी कुंडली का महाफल ऐसा कि लड़की ब्याह से पहले भकोस गयी दूल्हे को। जमाने ने इतना बड़ा तमगा दे दिया था उसे। फिर भी ज्योति पर कोई असर नहीं। उसकी तारीफ यहाँ तक बढ़ निकली थी कि एक से एक छँटे मंगली लड़के भी उससे ब्याह करने से घबड़ाने लगे। नतीजा - जिस ज्योति को समय से पहले ही ब्याह दिया जाने वाला था, उसके समय आने पर भी ब्याह के आसार दूर दूर तक न थे। लेकिन ज्योति को क्या वह खूब मन लगा कर बेसिन साफ करती, भाई बहनों की जुराबें धोती और डिजायन से बैंगन काटती। ज्योति की माँ का दहिना भाग लकवे की चपेट में था।

दहिना भाग मतलब होंठ, आँख सब। न तो वे मुकम्मल हँसी हँस सकती थीं, न दाहिनी आँख के फड़कने पर अपशकुन का कोई सवाल था। आखिरी भाई तो इतना छोटा था कि माँ के दाहिने भाग में भी सिर घुसा कर लाड़ करता था। माँ टुकुर टुकुर उसे ताकती। घर के लोग 'हो...हा...' कर के दौड़ते। ये रोज की कहानी थी। ज्योति हम सबमें सबसे ज्यादा काम निबटा कर पढ़ने आ जाती और जब वह हमारे साथ मीठी-मीठी मुस्कान बाँटती लौट रही होती तब भी उसे मालूम होता कि घर जाकर, हम सबमें सबसे ज्यादा काम उसे ही निबटाना था। वह दिन भर में दसियों चेहरे बदलती। सुबह अपने पिता के साथ टहलने निकलती तो दुनियाजहान की वजनदार खबरों पर खुल कर बोलती। यह एक माडर्न, आजादख्याल बेटी का रोल होता। फिर दुपट्टा कमर में खोंस, आटा बेसन से भिड़ जाती। फिर भाई बहन, माँ सबको सजा चुकने के बाद खुद सज कर हमारे बीच पहुँच जाती। लंच के समय छीन झपट मचाती, क्लास में पीछे बैठ कर कार्टून बनाती, मजेदार चीट पास करती... मस्त

लड़की के रोल में ज्योति सच में फबती थी। हम सबको आटो स्टैंड में छोड़ते ही, ज्योति एकदम संजीदा वर्किंग गर्ल क्या कहें... वुमन बन जाती। कंप्यूटर की इवनिंग क्लासेज में दो घंटे रिसेप्शन पर गुलाबी रजिस्टर में रिमाक्स वाले कालम भरती और उसी संजीदावस्था में रुखसत लेती। फिर शुरू होती नर्स वाली पारी। घर पहुँचने पर माँ की सफाई बुराई... बिस्तर, उनके कपड़े...। फिर माँ का रोल शुरू होता। एक एक करके भाई बहनों से उनके दिन भर के हिसाब की वसूली होती। फिर सबको पढ़ने बैठाना और बीच-बीच में उनके चौकन्नेपन की अचानक निगरानी। उसके बाद बाईगिरी। बरतन चौका। फिर आखिरी सेशन होता 'हैप्पी इंड' का। सभी भाई बहन एक कमरे में अड्डा मार देते। आधी रात तक वहाँ से हा...हा...हो...हो... की आवाजें आती जाती रहतीं। पिताजी दरवाजा खोल उसके बीचोंबीच कुर्सी पर चुपचाप उठेंगे रहते, उमस भरी बिजलीविहीन उन रातों में। माँ की आँखों से आँसू गिरते जाते। वे सोचती होंगी कि उन्होंने तो कभी सिखाया नहीं... खुद सीखा नहीं तो सिखाती क्या... पर ये बच्चे कैसे सीख गये ऐसी जिंदादिली! खासकर ये बड़की...।

हर्ष! वह हमारे घरे में कैसे घुसा, कैसे घुसता चला गया...। बहुत धीरे धीरे खुलने वाला लड़का। दिन भर में औसतन तीस पैंतीस लाइन बोलता। बस। अच्छी सी आवाज। लेकिन उसकी जरूरत से ज्यादा हिफाजत। ऐसा भी नहीं था कुछ कि कम बोलने वालों की तरह वह इशारे से अपना काम चलाता। वह बस नजरें उठा कर सामने वाले को देखता था। अब सामने वाला उसे जैसे पढ़े - 'हाँ' समझे उसका माने, या 'ना' समझे। ग्रुप में मैं सबसे कम उसी के बारे में जानती थी। एक बार मैं उसके साथ बस स्टैंड तक आयी। शाम का सबसे मशगूल वक्त था। लोगबाग हुजूम में दफ्तर से घर की ओर या घर से बाजार की ओर भागे जा रहे थे। वह मुझसे एक हाथ की दूरी मेनटेन किये चुपचाप बढ़ा जा रहा था। मुझे उकताहट होने लगी। ये जँचता नहीं था कि एक ही ग्रुप के रोज मिलने वाले लोग ऐसे चुपचुप जा रहे हों। हालाँकि सही मायने में देखा जाए तो हम पहली दफा मिल रहे थे। अकेले में। भीड़भाड़ से दूर। ग्रुप के दूसरे लोगों की गैरहाजिरी में। झिझक और अनजानापन अभी तक हमारे बीच था। मैं खुद भी बड़ी चुप्पा किस्म की जीव गिनी जाती हूँ। लेकिन वह मेरा उस्ताद साबित हो रहा था और मुझे बाकायदा चिढ़ हो रही थी। मैंने कहा, 'देखते-देखते इस शहर की आबादी कितनी बढ़ गयी है।'

उसने चौंक कर सुना, फिर उजबक की तरह चारों तरफ देखने लगा। जब वह शहर की आबादी देख चुका तो फिर नजरें झुका कर कदमताल करने लगा।

'दिन भर में कितने शब्द बोलते हो हर्ष?' मैंने सीधा हमला किया।

'नहीं तो।' बोल कर वह झंपता हुआ मुस्कुराया और चुप हो गया। 'नहीं तो' - मेरे सवाल का ये कैसा बेतुका जवाब हुआ। मैंने सोचा कि ये तो खत्म मामला है। इससे बलवाने की कोशिश करना अपने आपको बेवजह तकलीफ देना है।

'तुम क्लास में कभी हँसती क्यों नहीं'

अरे... उसके इस छिपे हमले पर मैं सचमुच हैरान रह गयी। ये चुप्पा गुड्डा ऐसा भी बोल सकता था।

'कहाँ...!' मेरे मुँह से निकला। अनजाने में मैंने भी 'नहीं तो' किस्म का जवाब दे दिया।

'हँस कर दिखाने का पैसा लेती हो तो पैसा लो, लेकिन हँसा करो।'

ये तो बड़े उस्तादों जैसी बातें बोल कर दिखा रहा था। मैं पूरी तरह डिफेंसिव एंड पर आ गयी थी और वह गुरिल्ला ढंग से चौंकाऊ हमले कर रहा था। लेकिन मैंने भी एक चांस लिया।

'अरे... वाह! तुम्हें तो खूब बोलना आता है। एक्सपीरिएंस बोल रहा है मेरे सामने बोलने का कितना पैसा लिया है?'

'रेट बताने का भी पैसा लगता है मैडम।' हर्ष हँसा।

उसकी बातों ने और उसकी उस हँसी ने नये सिरे से उसमें मेरी दिलचस्पी जगा दी। मैं सोचने लगी और खोजने लगी उन वजहों को जो उसे सामान्य से इतना कम बोलने की इजाजत देती थीं। फिर मैं दिन भर में छोटी छोटी कड़ कोशिशें करने लगी। उसे खुश करने की - उससे जबरदस्ती टोक-टोक कर कुछ बलवाने की...। मैं लगी रही। और धीरे धीरे मैंने पाया कि मेरी मेहनत असर दिखाने लगी थी। अब उसे कुछ कहने के लिए, हँसने के लिए ...मेरे सहारे की उतनी जरूरत नहीं पड़ने लगी थी। बल्कि वह कभी कभी आफेन्सिव रुख भी अख्तियार करने लगा। मुझे भीतर से खुशी होती कि वह मीठा-सा लड़का और मीठा होता जा रहा था। जब भी वह ऐसे खुश करने वाले परफारमेन्स करता, तो मुझे फख्र होने लगता। ऐसा लगता कि उसे मेनस्ट्रीम

तक लाने वाली मैं ही हुई। खासा मतलबपरस्त और अपने को लुभाने वाला ख्याल था ये। लेकिन इतना चलता है।

...बलवाडीह नाम की एक छोटी सी बस्ती। वहाँ पाकिस्तान के बँटवारे के बाद, बांग्लादेश से आए शरणार्थी बस जाते हैं। पहले वह अपना वजूद बचाते हैं फिर धीरे-धीरे वहाँ जम जाते हैं। उनकी औलाद। फिर उनकी औलाद। ऐसे ही...। लेकिन पहले से बसे लोग और इनके बीच एक दरार है...। उसी बस्ती में एक मास्टर हैं... वह खूब पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, लिखते हैं, लिखाते भी हैं। वह सोचते हैं, सोचवाना भी चाहते हैं। यहीं उनसे गलती हो जाती है। वह समझाने लगते हैं लोगों को कि जिस देश में वे अपनी रोजी रोटी पा रहे हैं, जहाँ सिर छिपा रहे हैं, जहाँ की मिट्टी का दिया खा रहे हैं, वहाँ के हक में अपना फर्ज पूरे ईमान से निभायें। वह अपने लोगों के बीच छोटे छोटे आंदोलन हमेशा चलाना चाहते हैं, ताकि आगे बढ़ने का रास्ता रोज नये तरीके से, नयी नजर से तलाशा जा सके। नयी उमर के नयी सोच वाले नौजवान उनसे हाथ मिलाते हैं।

सब मिला कर अपनी तरक्की के लिए काम करते हैं। पहले से बसे लोगों को खतरा महसूस होता है... कि इनकी तरक्की उनके लिए मुसीबत न बन जाए। पुलिस और प्रशासन उनके साथ है। वे एक बड़ा जोखिम उठाते हैं और मास्टर को पकड़ कर छिपा लेते हैं। मास्टर के लोगों का खून उबलता है तनाव बढ़ता है... कुछ लोग मारे जाते हैं... व्यवस्था पुलिस के हाथों में चली जाती है। लोगों पर दबाव बढ़ता है। जुल्म बढ़ता है।... लोग मास्टर को भूल कर अपने खून खानदान को याद करने लगते हैं। आबाद बस्ती धीरे-धीरे छितराने लगती है। तीन मुल्कों के ठुकराये हुए लोग खोलों में दुबक कर बिखर जाते हैं। मास्टर का परिवार भी बच बचा कर यहाँ आ जाता है। घर के सारे लोग मास्टर की याद को और अपने आप को भूल कर मेहनत करते हैं। घर आबाद हो जाता है और हर्ष जवान। उसकी छोटी, दुबली पतली, गाढ़े रंग की माँ सिंदूर लगाती है गहरा और इस यकीन से मुस्कुराती जाती है कि मास्टर को उठा कर ले जाने वाले मार नहीं पाये होंगे उन्हें। बल्कि इतने दिनों में मास्टर ने उनकी सोच को बदल दिया होगा। मोनालिसा-सी इस मुस्कान का राज खोलने में लोग चूकने लगे थे।

और आखिर में अतुल। वह जब मुस्कराता तो उसके बायें गाल में लड़कियों की तरह गड्ढे पड़ते थे। प्यारा लड़का..., जो बातें बहुत करता था। उसे नाराज कर देना ज्यादा आसान था कि मना लेना... मैं जान नहीं पायी।

'चलो इस संडे का प्लान बना कर मूवी चलते हैं...' इससे ज्यादा कल्पनाशील बात वह सोच ही नहीं सकता था। उसकी हद यहीं खत्म होती थी और वह उसी में मस्त था। हर इतवार मैटिनी और इवनिंग शो में उसकी हाजिरी लगती थी और वह दिन भर में लंच के बाद एक सिगरेट पीता था। खास बात एक कि वह अपना लंच खुद तैयार करके लाता था रोज, और रात की रोटी भी घर में सब उसके हाथ की ही खाना पसंद करते थे। मैं हैरत करती और उससे शिकायत करती कि वह फेंक रहा है... तब वह तरह तरह से मुझे इत्मीनान दिलाने की कोशिश करता। मुझे मुलायम, बराबर सिंकी रोटियाँ बनाना सिखा देने का आफर भी वह लगे हाथ दे देता।

जिंदगी का ऐसा ही खूबसूरत जायका मेरे काबू में था कि तभी वह खबर लपट की तरह बढ़ी आयी कि कारसेवक बाबर जानी की उस मस्जिद को तोड़ डालने के लिए मोर्चाबंदी कर चुके थे। लोगों में सनसनी फैल गयी। बल्कि ऐसा कहें कि एक सनसनी जो उनमें फैली हुई थी, उसे नाम मिल गया। लोग एक साथ उत्तेजित भी हुए और घबड़ा भी गये। वे फैसला नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें दूसरों की जान के पीछे पड़ना है या कि अपनी जान बचानी है? इस राष्ट्रीय असमंजस वाले हालात से बेपरवाह... मेरे ग्रुप का कार्यक्रम झटपट तैयार हो गया... अगले इतवार हम साथ मिल कर कहीं चलते हैं, पिकनिक मनाने। बात हर तरफ से राजी खुशी की मुहर लगा कर आयी तो अनन्या अड़ गयी। उसकी जिद थी कि बाहर कहीं जाने कि जरूरत क्या... सब मिल कर उसके ही घर में बैठकी जमा दें।

'लेकिन घर पर वह बात कहाँ जो आउटिंग में हैं...'

'नो शिरीष! तुम लोगों को तो बस बाहर भटकने का बहाना चाहिए।'

'अनन्या ऐसा करते हैं, पहले सब तुम्हारे घर इकट्ठा होते हैं, फिर बाहर चलते हैं।'

'ठीक है।' मनी ने कहा, 'बस यही पक्का रहा।'

शिरीष राजी हो गया।

मैं घर लौटी और मैंने अम्मी से बताना शुरू किया तफसील से। अम्मी तभी चश्मा लगाये कर्सी पर बैठी चावल से कंकड़ बीन रही थीं। अब तक होता यह आया था कि अम्मी चैन से मेरी पूरी बात सुनतीं और तब कम से कम लहजों में कुछ कह देतीं। लेकिन इस दफा अम्मी ने मेरी पूरी बात और पिकनिक की नक्शेबाजी सुने बगैर हड़बड़ी में मुझे बीच में रोका - 'तुम न जाती।'

मैं रुक गयी... रोक दी गयी। उससे पहले कभी इस तरह रोकी नहीं गयी थी, इसलिए इसके बाद अपनी तरफ से क्या सवाल पूछना चाहिए, इसकी भी तैयारी नहीं थी। अम्मी को भी लगा कि कुछ ज्यादा ही कह बैठी हैं लेकिन ज्यादा बोल चुकने के बाद कैसे बात सँभाली जाए, इसका उन्हें भी ठीक अभ्यास न था। फिर भी उन्होंने कहा, 'माहौल सही नहीं है चारों तरफ।' मैंने उन्हें देखा। उन्होंने आँखें चुरा लीं।

'मेरे जाने से...' अम्मी के फिर से कुछ कहने से मुझे बल मिला।

'ठीक है। कायदे से जाना।' अम्मी बोलीं।

उसके बाद से मैं मन ही मन तैयारियाँ तो करती रही पर ले देकर अम्मी की बात पर मन अटकता था। माहौल ठीक नहीं था इसका मुझसे क्या मतलब बनता था? मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा न था, न मेरे किसी दोस्त ने कुछ किया होगा। मैं किसी की ओर नहीं थी, मेरे दोस्त भी किसी की तरफ क्यों रहते... फिर हमारी आजादी में खलल कोई क्यों डालने लगे, जब हमने किसी से मतलब नहीं रखा? मैंने देखा अम्मी मेरी सारी सुन चुकने और अपनी सारी बोल चुकने के बाद कुछ पेंचीदी बात गुनने लगी थीं। वह चावल बीन कर उठने लगीं तो सँभाल गड़बड़ायी और पूरी तश्तरी गिर पड़ी। फिर वे बैठ कर कुछ लम्हें हाथों से फर्श के चावल बीन कर उन्हें तश्तरी में डालने लगीं। फिर सूप ले आयीं। फूट और सूप मिला कर फूट को सूप में उठाया। फूलझाड़ लायीं, सफाई की... और तब जाकर पहले वाली हालत बनी। तभी अम्मी को ख्याल आया कि समाचार का वक्त हो चला था। वे हाथ धो रही थीं। वहीं से आयीं, आधा अधूरा पोंछा और झट से टी.वी. का स्विच अधगीले हाथों से ही आन कर दिया। समाचार की दुनिया मेरी दुनिया से एकदम जुदा थी। वहाँ बड़े बड़े लोग बोल रहे थे। वे अपनी कौम की तरफ से नहीं, दूसरे कौम के खिलाफ बोल रहे थे। मुझे ये सब देख सुन कर बड़ा हौलनाक अहसास हुआ। 'अल्लाह...' अचानक से मेरे मुँह से फरियाद निकली कि मेरा कोई साथी इसे न देख रहा हो। लेकिन यह क्या! मैंने देखा कि अम्मी मुझे देख रही थीं। इस दफा मैंने नजरें चुरा लीं। उस रात अगले दिन के समूचे नक्शे के बारे में मेरे ख्वाब पर पानी पड़ गया। लेकिन जाने क्यों हल्के जाड़े की उस

रात उस भींगे ख्वाब और गर्म हकीकत में से गीले ख्वाब को ही चुन लेने का जी कर रहा था।

अगले रोज मुझे जाना था, लेकिन कायदे से जाना था यह सुनने में आसान था, लेकिन करने में मुश्किल जान पड़ रहा था। फिर भी अम्मी ने कहा था तो ऐसा ही सही। मैं चलने को हुई तो अम्मी दरवाजे पर किवाड़ पकड़ कर खड़ी मिलीं। उन्होंने मुट्ठी में से तुड़ामुड़ा सौ का नोट मेरी मुट्ठी के हवाले किया और मुझे देखती रहीं। बीच में उनकी भौंहों की लय थोड़ी गड़बड़ायी और वे ऊपर-नीचे काँपीं। जब कंपन के आसार ज्यादा बढ़ने लगे तो अम्मी सामने घूम गयीं और मुझे रास्ता दिया उन्होंने। मैं निकल गयी तो बोलीं, 'शाम का ख्याल करना।' मैं 'अच्छा' बोल कर निकल गयी। अपनी गली की मोड़ पर पहुँच कर मेरा मन किया कि मैं आगे न जाऊँ, वापस लौट चलूँ। मैं ठिठकी, लेकिन वही गीले ख्वाब और गर्म हकीकत वाली बात थी। सो मैं चलती रही। अनन्या के घर से जरा-सी पीछे रही होऊँगी... जहाँ से उसका घर दिखता था..., तब लगा कि हो सकता है बेहतरी मेरे न जाने में ही हो। गीले ख्वाब जिंदा तो रहेंगे। अगर इन्हें कुछ हो गया तो...! मैंने जोर से अपने को घुड़का। मैं अपने आप को आगे सोचने का मौका दिये बगैर तेज-तेज, अनन्या के घर की सीढ़ियाँ चढ़ गयी। वहाँ सभी आ चुके थे, बस मेरा और मनी का इंतजार था। मनी का? खुदा! मुझे मनी का होश वहाँ आकर आया! वह बेचारी मेरा रास्ता देखे जा रही होगी। तय था कि मैं उसके घर जाकर उसे साथ लेती। अब क्या हो? हम सब परेशान हो उठे। मैंने दुबारा लौट कर उसके घर तक जाने की पेशकश की। तीनों लड़के मचल उठे - 'तुम्हें जाने की क्या जरूरत है... जब हम हैं?'

'अरे...!' मैं फार्म में आ गयी, 'तुममें क्या है, जो मुझमें नहीं है। मैं क्या कोई शहजादी... फूलकुमारी हूँ? कमजोर हूँ क्या? गलती मेरी है। सुधार पर बस मेरा हक है। मैं चली।' अब मेरी खौफनाक शकल से भिड़ता कौन। पर शिरीष ने हिम्मत की - 'नहीं आप ताकतवर हैं बहुत। आपको बड़े बड़े काम करने हैं, इसलिए ताकत को बचा कर रखें। अभी धूप में चल कर आयी हैं, चेहरा लाल हो रहा है। बैठ कर पानी-शानी पीजिए। मैं उसे लेकर आया अभी।'

वह चला। मैं 'शिरीष शिरीष' चिल्लाती जीना उतरने लगी फिर अनन्या मुझे वापस खींच ले गयी। मैं भीतर जाकर बैठ तो गयी पर शिरीष के ऊपर मुझे बड़ा तेज गुस्सा आया - असली वाला! ये लड़का बार बार मुझे क्या अहसास कराना चाहता है... मैं कुढ़ती रही। मनी मेरे ऊपर कुढ़ती आयी और आते ही गुस्सा करने लगी, नकली

वाला। हम सब लोग अनन्या के घर से ढंग से पेट भर कर निकले। अनन्या की गाड़ी। अनन्या का ड्राइवर। शहर में थोड़ा अलग हट कर बना डैम। वहाँ का जंगलों का वीरान इलाका.. हम घूमते रहे, बतियाते रहे, तसवीरें उतारते रहे एक दूसरे की। खेलते रहे गानों की अंत्याक्षरी, खाते रहे फिर से अनन्या का ही खाना। उसके बाद दोपहर ढले हम सब लोग छितरा गये। कोई कहीं निकल गया, कोई कहीं। हम पेड़ों की छाँव में ही अधलेटे हो गये। हम, यानी मैं और ज्योति। वह अपने उस रिश्ते की बात मुझे बता रही थी, जहाँ पिछले हफ्ते से उसकी शादी की बात चल रही थी। बताते बताते उसने पूछा जरूर 'मैं तुम्हें बोर तो नहीं कर रही?'

'बताती चल।'

'तेरी शादी की बात आंटी सोच रही हैं?'

'अरे तू अपनी सुनाते सुनाते मेरे पर कैसे उतर गयी चल आगे बता।'

ज्योति बताती रही। पर मेरा मन भटक चुका था...। एक शाम पहले की घर की बातें। शिरीष से झड़प...। मैं उठ कर बैठ गयी। मैंने स्वेटर से सटी पतियाँ झाड़ीं, नजरें दौड़ायीं। शिरीष दूर कोने में डंडे से झाड़ी में ठोंकपीट कर रहा था। ज्योति अलसा पड़ी थी।

'नींद आ रही है... मैं सो लूँ क्या?'

'सो रह! मैं तेरे सिर पर छाँह कर देती हूँ।' मैंने झाड़ियों में शाल टाँग कर उसके सोने का माहौल बना दिया। मैं उठ कर शिरीष की तरफ चली और उसकी बगल में जाकर बैठ गयी।

'मुझसे माफी क्यों नहीं माँग लेते?'

'सोच रहा हूँ... तुम्हें माफ क्यों नहीं कर देता।'

'अरे...!' मैंने उसके हाथ का सटका झपट लिया - 'गलती तुम्हारी थी। मैं चली जाती तो आसमान टूट पड़ता? तुम्हें हर बार ये जताना जरूरी है कि मैं लड़की हूँ और छुईमुई हूँ और कमजोर हूँ और सब कुछ मेरे बूते का नहीं।'

'गलती मेरी है।'

'है ही।' मैंने सटका जमीन पर मारा।

'मानता हूँ। माफ कर दो। आगे ऐसा नहीं होगा।'

'हद है। ऐसे कैसे मान लिया कि गलती तुम्हारी है मुँह में जुबान नहीं है क्या?'

'क्या करूँ।'

'लड़ो...।'

'नहीं, गलती मेरी ही है। तुम जो कहो वही करना चाहिए मुझे।'

'कैसे करना चाहिए क्यों करना चाहिए... मैं जो कहूँ वही?'

'क्योंकि तुम सही कहोगी।'

'ऐसा कैसे सोच लिया तुमने कि मैं सही ही कहूँगी?' मैंने सटके को फिर से जमीन पर मारा।

'क्योंकि मैं तुम्हें पसंद करता हूँ।'

'ये तो ठीक है। बहुत लोग मुझे पसंद करते हैं। पर क्या ये अहसास कराना जरूरी है इसका गलत फायदा भी उठाया जा सकता है।'

'क्या गलत फायदा उठाओगी तुम?'

'वह मैं तुम्हें क्यों बताऊँ?' मैंने सटका जमीन पर मारा था।

'लो न! जमीन पर क्यों मार रही हो? मेरी पीठ पर ही मारो, बहुत गुस्सा है तो।'

'मेरी जहाँ मर्जी मैं वहीं मारूँगी।'

'हाँ-हाँ बिल्कुल जो मर्जी हो तुम्हारी वैसा ही करो।'

'चिढ़ा रहे हो मुझे?'

'नहीं नसर।' उसने आँखें बंद कर लीं और सिर झुका लिया। तब मुझे पहली बार अहसास हुआ कि शिरीष दुबला हो गया था - 'नौकर खाना सही नहीं बनाता है क्या?' शिरीष की माँ बड़े भाई के पास बाहर गयी हुई थीं उन दिनों, और घर पर पिताजी के साथ वह अकेला था।

'नहीं...।'

'खुद से बनाने लगोगे तो रुतबा चला जाएगा क्या? इतने बड़े हो चुके। अपना पेट भी नहीं भर सकते?'

'मेरे खाने की बात यहाँ कहाँ से आ गयी?'

'दुबले हुए जा रहे हो। हड्डी निकल चुकी है। लेकिन सूरत ऐसी है, कोई मॉडलिंग भी क्या करवाएगा?'

उसने दूसरा डंडा ढूँढ़ लिया और सिर झुकाये झुकाये जमीन खुरचने लगा।

'जितनी देर गली में लोफरबाजी करते हो, उतने वक्त में खाना भी बनाया जा सकता है।'

वह फिर भी चुप ही रहा। मैं खीझ उठी सच में।

'चुप रहने से लोग तारीफ नहीं करने लगेंगे तुम्हारी। उसके लिए कुछ हुनर भी होना चाहिए।'

'चलो बोलता हूँ। बोलूँ...नसर बहुत गुणी है। नसर कभी गलत नहीं हो सकती। नसर जो कहे वही सही है।'

मैंने जमीन पर जोर से सटका बजाया...

...मनी, अनन्या, अतुल और हर्ष लौट आए कुछ जंगली फूल और पत्तियाँ वगैरह लेकर। मनी अपनी समझ से कुछ जड़ी बूटी भी ढूँढ़ लायी थी। हमने ज्योति को जगाया और वापसी की तैयारी की। सामान वगैरह समेट कर हमें चलते चलते शाम ढलने लगी। मैं अनन्या की कार पर सवार हुई तो अम्मी की बात याद आयी। उनकी दरवाजे वाली शकल भी। मैंने वक्त देखा और अंदाजा लगाया कि मैं समय पर न सही, जरा ही लेट, पहुँच जाऊँगी। हम बाजार पार कर गये थे, जब गाड़ी रुक गयी। थोड़ा जाम लगा था। हमने उचक कर देखा तो मजमा जैसा कुछ आता दिखा। नारेबाजी चल रही थी। दूर से आती आवाज का कुछ मतलब नहीं निकल रहा था। जब आवाज पास से गुजरी तो टुकड़े में पसर गयी - 'हिंदू हैं हम हिंदू यारों। कटुए साले को देखो मारो...'

मेरी नाक बंद हो गयी और मुझे मुँह खोल कर साँस लेना पड़ गया। बीच चौराहे पर मुझे लगा... मेरे सारे कपड़े मेरे जिस्म में समा गये हैं, और मैं बस उघड़ा आकार भर रह गयी हूँ। हुजूम गुजरा। गाड़ियाँ धीरे धीरे सरकने लगीं। हमारी कार भी बढ़ी लेकिन कार के भीतर सब कुछ रुक गया जहाँ का तहाँ। पहले के चलते आ रहे शोरशराबे, गीत ठहाके सब अकड़ गये। मुझे इस सन्नाटे से खौफ होने लगा। मेरे भीतर से एक आवाज उठी थी, जो कहती थी - बोलो... कोई तो बोलो। पहले की तरह कोई बोलते क्यों नहीं, साँप क्यों सूँघ गया सबको। हम दोस्त बन कर आए थे दोस्त बन कर ही लौटें। कोई तो अपनी आवाज से नजरअंदाज करे इस शोर को, जो हमारे भीतर अजनबीपन बो रहा है। कोई तो बोलो... शिरीष। कार में कुछ हिंदू और एक मुसलमान रह गये थे। कार रुकी पहले एक हिंदू के घर, फिर दूसरे हिंदू के घर, फिर मुसलमान के घर। सब कुछ बड़ा निबटाना किस्म का रह गया था। मैं उतरी। हल्की मुस्कुराहट, जिसे मुस्कुराना जितना मुश्किल था, लोगों के लिए उसका जवाब देना भी उतना ही मुश्किल रहा।

अँधेरा गहरा रहा था, जिससे सही दिखा नहीं दूर से। मैं सीढ़ियाँ चढ़ गयी तो अम्मी एकदम सामने खड़ी दिखीं।

'अम्मी आप अकेली थीं घर पर। मेरे पीछे सब ठीक तो है?' अजीबोगरीब से इस सवाल को पूछने की ख्वाहिश हुई। अम्मी को देखते ही मुझे लगा कि वह हुजूम मेरे घर की ओर ही बढ़ चला था उस वक्त। अजब पागलपन था, वे लोग इधर ही आते होंगे तो भी मुझे तो पहले पहुँचना ही था। मैं कार से जो आयी थी। मतलब अभी तक सब ठीक है, आगे गड़बड़ हो सकता था...

अम्मी के चेहरे पर एक स्याह परत थी, जो मेरे आने से छँटी थी। अम्मी चुपचाप मेरे आगे घर में चलीं। फिर दरवाजे पर वह रुक गयीं। मुझे भीतर घुसने दिया। फिर खुद घुसीं और दरवाजा बंद कर दिया उन्होंने। अम्मी किचन में चलीं गयीं। उस वक्त तेज तबीयत थी कि वैसे ही, औंधी, बिछावन पर पट जाऊँ पर अम्मी का लिहाज कर कपड़े वगैरह बदल, हाथ पैर साफ कर मैं किचन में पहुँची। अम्मी ने सब्जी छाँक दी और खाँसी का दौर खत्म कर मुझसे पूछा, 'कैसा रहा सब?'

'ठीक।'

'आने जाने में...?'

'ठीक।'

'तू जाकर आराम कर। भूख लगी है?'

'नहीं।'

'ठीक है। मैं खाना बना कर तुझे बुलाती हूँ, भूख तो लगी ही होगी।' अम्मी की बात ने मुझे पिघला दिया। अभी, दरअसल मैं ऐसे जबरदस्त जज्बाती कगार पर खड़ी थी कि एक जरा सी गर्म आवाज मुझे बूँद में बदल सकती थी। मैं आकर लेट गयी। कलेजे के भीतर धड़कनों का शोर बढ़ चला। उस आवाज को सुन कर मेरा बुत में बदल जाना। उफ... मैंने आँखें बंद की तो एक और ही शकल तैर गयी। शिरीष का चेहरा...।

शिरीष को देखूँ या उसकी आवाज भी सुनूँ... बस जान लूँ कि वह है कहीं आसपास, तो मुझे कैसा लगने लगता। उसके सामने होते ही मेरे भीतर उससे खेलने की आरजू सिर उठाने लगती और फिर खेलते खेलते उसे गोद में बिठा कर खेलाने की या बींधने की ख्वाहिश। कभी उसे धमकाने की, कभी नाराज हो होकर आसमान तोड़ देने की तमन्ना। कभी कभी उससे हर तरह की बातें करने का जी चाहता और अपने सारे राज उसके आगे बेपर्दा कर देने को मैं तैयार दिखती। कभी उसकी बेवकूफी देख कर सिर ठोंक लेने का दिल करता और अहसास होता कि यह लड़का तो किसी काम का था ही नहीं। मैंने उसे अपना प्यारा-सा दोस्त बना लिया था और ख्वाहिश यही थी कि मैं उसकी अजीज बन जाऊँ। पर कभी कभी सच में वह मुझे कँपा देता था। जब वह मेरी सारी बातें मान लेने वाली चीज दुहराता था - मेरे जुल्म पर चुपचाप सिर झुका लेता था - अजीब-सी आँखों से मुझे देखता रहता... बस उसकी इन्हीं चीजों से मैं खौफ खा जाती थी, क्योंकि मैं उसे खोना नहीं चाहती थी। और यह जानती थी कि उसे खो दूँगी मैं उसी वक्त... जब वह मुझसे ये कह दे कि उसे मुझसे... वह मुझे चाहता है... मैंने आँखें खोल दीं। उस लम्हे को मैं झेल नहीं पाती यह तय था। मुझे उसे अपना दोस्त बनाये रखना था, सिर्फ दोस्त। इससे पहले कि वह इसके आगे बढ़े, मैंने उसे रोक लेना तय किया। मैं ये फैसला-सा करके उठी और अपने लिए एक किताब निकाल लायी। मैंने उसके पन्ने सीधे किये और धुन से सारे पन्ने पलट गयी। कुछ पन्नों पर रुक कर मैंने उनमें कुछ उलझाना भी चाहा अपने को। लेकिन बहला नहीं पायी। मैंने थक कर अपना सिर घुटनों पर रख दिया। मैं सोचती गयी सुबह की घटनाएँ, शाम का हादसा, उसके एक शाम पहले की बात... मेरी सीधी खुशमिजाज जिंदगी को तोड़ मरोड़ क्यों रहा है यह सब। क्या वजह है कि मैं अपनी मर्जी के रास्ते पर चल नहीं पा रही...

कभी मेरा जेंडर मुझे पीछे खींच रहा था, तो कभी मेरा मजहब। मैं अगर लड़का होती तो न शिरीष मेरे बारे में उस तरीके से सोचता, न मैं ही डरती रहती। हम कितने प्यारे दोस्त हो सकते थे तब। या कि यह मजहब ही हमारे बीच नहीं आता तो हम कितनी बेफिक्र जिंदगी जी पाते।

अम्मी खाना लेकर कमरे में ही आ गयीं। मैं हड़बड़ा कर उठी। किताब नीचे गिर गयी। मैंने उसे उठाया। बिस्तर पर रखा तो अम्मी ने उसके ऊपर ही थाली रख दी। मैंने थाली को अपनी गोद में रखा और रोटी तोड़ डाली। अम्मी लौटिं नहीं थाली रख कर। वे बैठ गयीं वहीं। अम्मी ने थोड़ी देर चुप रह चुकने के बाद कहा, 'इससे पहले कि उस पर कोई हमला हो या हमें नुकसान पहुँचे... हमें निकल जाना चाहिए।'

'उस पर' - मतलब किस पर? कोई हमला करे - मतलब? कौन? हमें निकल जाना चाहिए? हमें - किन्हें - जैसे कई सवाल मेरे जेहन में गूँजे। लेकिन मैंने पूछा - 'कहाँ?' अम्मी ने कहा - 'अपने लोगों के बीच। यहाँ हमारे आसपास कोई नहीं बचा... अपना।'

मैंने आसपास नजर दौड़ायी। फिर मैंने एक एक कर सारे सवाल पूछे। अम्मी उन्हें सुन कर कुछ देर चुप रहीं। फिर वे बोलीं, 'कारसेवकों को सरकार रोके या वे मस्जिद को तोड़ डालें - दोनों हालातों में यहाँ हमारा रहना सही नहीं... यहाँ आसपास सारे हिंदू ही तो बचे हैं। हमारे लोग तो सब अब यहाँ से छिटक कर दूर बस गये हैं। मैंने शाम को चौक पर से तेरे मामू के घर फोन लगाया था। वहीं...'

'मामू...।' मैं बिदकी। जिस मामू का नाम अम्मी ने भर जन्म तक न सुनने की कसम ले ली थी... उनके घर फोन किया! मुझे अम्मी की सुनायी कहानियों के शैतान - अम्मी की शादी के बाद हँसुआ लिए अब्बू को दौड़ाते मामू - की झलक दिखी। घोर हैरत की बात थी मेरे लिए कि नाता तोड़ चुकने के इतने दिनों बाद अम्मी ने अपनी पहल पर मामू को फोन किया। बिना मुझसे सलाह किये... और उनके पास जाना भी तय कर बैठीं? मामू का टेलीफोन नम्बर मिला कहाँ से अम्मी को? तो क्या अम्मी ने जरूरत के खास दिनों के लिए अपने लोगों के कुछ टेलीफोन नम्बर सँभाल रखे थे! अपने लोगों - हूँह - मेरी जुबान कड़वी हो गयी।

अम्मी ने शायद मेरे मन को कुछ हद तक पढ़ लिया। धीरे से बोलीं - 'देख नसर! तू जिन दोस्तों से घिरी है ना, वे भोले हैं अभी बच्चे हैं। कुछ समझते नहीं। कुछ देखा नहीं। लेकिन जिस रोज मजहब की आग जोर पकड़ेगी, उस रोज सारा नक्शा ही बदल जाएगा। तू उनके लिए मंदिर को तोड़ कर उस जगह अपने खुदा को रख देने

वाली काफिर बन जाएगी। उधर अयोध्या में कोई पंडा एक पत्थर, किसी मुसलमान पर उठाएगा, इधर तू पत्थरों से लाद ही जाएगी। मजहब की बात आते ही इंसान वहशी बन जाता है...।'

वह रात अँधेरी, और हादसों से भरी थी। कभी बियावान में एक काफिला 'कटए साले को देखो मारो..' बोलता हुआ गुजर जाता, कभी मैं बैठी होती... चुप सी, कभी शिरीष को पुकारती हुई, गुस्से से फूलती मैं, अनन्या के घर की सीढ़ियाँ उतरती जाती। कभी बरामदे में खड़ी अम्मी के चेहरे की परछाईं दिख जाती। कभी पेड़ के नीचे पत्तों के ऊपर ज्योति के साथ मैं लेटी होती...।

अगले रोज सूरज गोल बना-ठना-सा निकला पर जल्द ही बादलों से घिर गया और फिर लिटमस पर पड़ी स्याही की तरह बादलों पर पसर गया। मैं उस पसरे सूरज के साये में बस्ता-वस्ता लेकर निकली। पिछली रात के बाद से उस रोज तक मैंने अपने को कुछ भी नहीं सोचने दिया था। इस यूनिवर्सिटी तक के रास्ते को भी ऐसे ही काट लेना चाहती थी। पर होने लगा जरा हट के। गली में जहाँ मैंने तीन चार लोगों को एक जगह गोलबंदी किये धीमी आवाज में बातें करते देखा, मुझे लगना शुरू हुआ कि ये मेरी ओर इशारे करके कुछ कह रहे हैं। वह 'कुछ' जिसका ताल्लुक सिर्फ मुझसे था। उसी बेवक्त मैं मैंने कलेजा दाब कर यह भी अंदाजा लगाना शुरू किया कि कितनी दूर तक इस इलाके में अल्लाह को मानने वाला कोई नहीं था हमारे सिवा। कितनी अजीब बात थी कि हम दो लोग इस इलाके में बसे थे। हालाँकि इस बात के अजूबियत पर अब हमने गौर किया था। क्या ऐसा था कि लोग भी इस बात को आज तक नहीं महसूस पाये थे और क्या ऐसा भी था कि अब लोगों ने भी अहसास कर लिया था। हम दो लोग। जमाने से कटे-छँटे दो बाशिंदे। अपने लोगों से भी कटे हुए और अपने इलाके से भी। कभी कभी अम्मी को दूर की फूफी या चाची खबरदार कर जातीं कि ऐसे अपने खानदान से कट कर रहोगी तो घर का कोई लड़का मिलने से रहा, बेटी के लिए। मतलब मेरे लिए। हमारे मजहब की एक बड़ी सहूलियत भी हमें नसीब नहीं होने वाली थी।

आटो में बैठी। आटो में कितने लोग बैठ पाते हैं बहुत से बहुत पाँच या छह। बस उन पाँच छह लोगों से ही, चार पाँच कहूँ... मुझे छोड़ कर... अच्छा खासा शोर था - बस वही... ईंट पत्थर की बनी एक मस्जिद, उसके खिलाफ आगे बढ़ते कारसेवक...। लोग जोश में थे। सबके पास बोलने को बहुत कुछ था, पर उन्हें बोलने के लिए अपनी

बारी का इंतजार करना पड़ रहा था। यूनिवर्सिटी पहुँची तो ऐसा लगा जैसे सारे पेड़ बोल रहे हों... वही जज्बात..., वही बातें, वही ढंग...। कभी कोई पेड़ मुझे देख कर फुसफुसाता... चुपचाप... वह आ रही है...। कुछ चुप लगा जाते... कोई एक बोल पड़ता - आ रही है तो क्या हम किसी के बाप से डरते हैं क्या... स्या...।

चलिए वह रास्ता भी लदे-फँदे पैरों से कटा। उस रोज यूनिवर्सिटी में माहौल अजीब-सा था। कोई पढ़ने-पढ़ाने के मूड में नहीं था। सभी, जो हुआ था, उस पर तफसील दे रहे थे और कुछ और भी होगा इस बात का उन्हें यकीन था। यही यकीन उन्हें और मशगूल कर रहा था उस मुद्दे में। बल्कि एक तरह से वे उस यकीन के हकीकत बनने का इंतजार करना शुरू कर चुके थे। मेरी नजर मनी पर गयी। वह मुझे देख कर चौंकी और मुँह से निकला उसके - 'तुम यहाँ? ठीक उसी समय मैं चौंकी और मेरे मन में भी उठा - 'मैं यहाँ? हम दोनों अचरज में गर्क रहे कुछ देर। फिर क्या था, यह सिलसिला चल निकला। जो भी पहचान वाला मुझे देखता, ऐसे ही चौंकता और उतनी बार मैं भी चौंक पड़ती। ये चौंका-चौंकी का खेल चलता रहा। अब यहाँ के आगे मैंने ये भी सोचना शुरू किया कि अम्मी को भी इसका ख्याल कैसे न आया कि मुझे रोक ही लेतीं। तब ये खबर भी आ गयी कि क्लासेज सस्पेंड कर दी गयी थीं। उस वक्त मुझे लगा कि मुझे अपने आप को मुजरिम होने का अहसास कराना चाहिए। गजब था, मैं इतने अरसे से मुसलमान थी, ये इतने जमाने से हिंदू थे... लेकिन हम डोरमेंट हालत में पड़े थे। एक वाक्या हो जाता है और सब कुछ बदल जाता है। मुसलमान हिंदू दोनों हरकत में आ जाते हैं।... और तब चौंकना, सोचना, नफरत, बदला... ये सब सीन में आ जाते हैं।

क्लासेज नहीं हुए तो जाना चाहिए था। लेकिन अनन्या ने मशविरा दिया कि लंच बाक्स खाली करके ही चला जाए। अब लंच का सीन। टिफनें खुलीं। बाँटने का सिलसिला शुरू हुआ। जब-जब टुकड़े बना कर उनके डिब्बों में रखती जाऊँ, तो मुझे लगे कि मैं अपने लंच से बीफ के टुकड़े उन्हें पेश किये जा रही होऊँ। और किसी भी वक्त कोई मेरा हाथ पकड़ कर मेरे लंच सहित मुझे ग्राउंड से बाहर फेंक सकता था...। कुछ ऐसा हुआ नहीं। लेकिन ऐसा ही दूसरा कुछ हो रहा था। हम सब चुप थे। मैं जब भी पलकें उठाती तो पाती कि सामने वाला मुझे देख रहा होता और मेरे देखते ही उसकी पलकें झुक जाएँ। चाहे सामने वाला कोई भी हो - मनी, अनन्या, ज्योति, अतुल, हर्ष, शिरीष। हाँ जब शिरीष के साथ ऐसा हुआ तो मुझे सदमा लगा। वजह यह थी कि मुझे रात को अपने से किया गया एक वायदा याद आया। शिरीष की आँखें मुझे खींच रही थीं या कि वे अपने को मेरी तरफ ढकेल रही थीं। मैं सँभाल तो नहीं ही

पायी। उलटे मेरी साँसें जरूर तेज हो गयीं। इसे रोकना ही पड़ेगा। मैंने जी कड़ा किया। उसी समय मुझे लगा कि मेरी तेज रुलाई निकल पड़ेगी और मैं घिघिया कर पूछ पड़ूँगी कि मेरी क्या कोई खता थी... कि मैं एक रात में बाबर जानी की कब्र पर रखा फूल बन गयी... मैं नसरीन। उनकी आँखें कोई सवाल करतीं या केवल चुभतीं भर मुझे, तो मैं ये सब कह सकती थी। लेकिन तब जब उनकी नजरें ठंडी थीं और उनमें कतरा कर बच निकलने की मंशा थी तो मेरे लिए ये सब करना भी मुमकिन न था।

मैंने लंच के बाद चलते समय जरूर शिरीष को धीरे से रुकने के लिए कह दिया। कहा उससे कि मुझे कुछ बातें करनी थीं। वह लाइब्रेरी की ओर निकल गया। बाकी लोग घर जाने लगे। मैंने मनी से कहा कि मुझे आफिस में जरा काम था। मैं उस वक्त आफिस में ही घुस गयी। मनी चली गयी तो मैं भी लाइब्रेरी की ओर चली। यूनिवर्सिटी बियावान हो रही थी। और मेरा ख्याल था कि लाइब्रेरी में भी ताला लगने ही वाला होगा। लेकिन वह जगह रस्म निभाने भर खुली थी। शिरीष एक खिड़की से लग कर बाहर देख रहा था। मैं गयी और मैंने उससे बाहर चलने को कहा। मेरे हाथ उस वक्त भी पसीने से भरे थे। बाहर धूप में पहुँच कर मैं शिरीष की तरफ पीठ और एक पेड़ की तरफ चेहरा करके खड़ी हो गयी।

'मुझे बात पूरी करने देना। बीच में टपकना नहीं। काटना नहीं। मेरी ओर देखना भी नहीं।' मैंने कहा।

वह चुप ही रहा होगा क्योंकि मुझ तक उसकी कोई आवाज नहीं आयी।

'मैं कोशिश करूँगी कि कम लफ्जों में अपनी बात कहूँ और साफ साफ कहूँ।' मैं कहती रही - 'तुम मुझे पसंद हो। मैं तुम्हें एक दोस्त के रूप में कुबूल कर चुकी हूँ। दो इंसानों के बीच दोस्ती से खूबसूरत कोई रिश्ता नहीं हो सकता। न इससे ज्यादा खूबसूरत, न बड़ा। वे दो इंसान चाहे एक लड़की और एक लड़का ही क्यों न हों। कोई रिश्ता नहीं शिरीष... मोहब्बत भी नहीं।' मैं रुकी कुछ लम्हे... 'दोस्ती और इश्क के बीच की लकीर बड़ी पतली है। इस लकीर की कद्र तुम्हें भी करनी पड़ेगी और मुझे भी। मेरे जेहन में हम दोनों के रिश्ते की जो तसवीर थी मैंने तुम्हारे सामने रख दी... अब आगे तुम्हारी मर्जी...। वह चुप था अब भी। तब मेरा हौसला और बढ़ा। मैंने आगे कहा, 'मुझे लगता है कभी-कभी कि जैसे तुम...। आगे से ऐसा नहीं होना चाहिए। हम दोनों दोस्त हैं... बस दोस्त।' यही वह मुकाम था जहाँ मुझसे चूक हो गयी।

ये बाद वाली चीजें मैं न कहती तो उससे बचा जा सकता था, जो तब हुआ। कैसे-कैसे क्या हुआ, नहीं पता। मुझे तो बस अचानक सिसकी सुनाई दी, जो तेज आवेग की रुलाई में तुरंत बदल गयी। मैंने इधर चेहरा किये-किये ही महसूस किया कि रोने वाला शिरीष था। मैंने उसे रो लेने दिया और खुद उतनी देर दाँत पर दाँत चढ़ा कर खड़ी रही। मुझे ऐसा अंदेशा होने लगा कि जिस घड़ी का सामना करने से मैं कतरा रही थी, वह शायद यही थी। मैंने अपने आप को मजबूत बना कर रखा। यह वक्त यदि तरीके से निकल जाता तो अपने दोस्त को सहेज सकती थी। लेकिन कमबख्त यह वक्त बड़ा आहिस्ता आहिस्ता गुजर रहा था। कुछ घड़ी बाद उसकी सिसकियाँ बंद हो गयीं और वह चुप होते-होते चुप हो गया। कुछ देर चुप बैठने के बाद उसने कहा - 'तुम जैसा कहोगी, वही सही है।' उसकी आवाज धीमी पर सधी हुई थी।

'क्यों सही है वही?' मैं चीखी - 'मैंने कह दिया इस वजह से? क्या तुम ऐसा नहीं सोचते? तुम्हें ऐसा अहसास नहीं होता!'

'हुआ। इसलिए तो कहा...'

'फिर ठीक।' मैं विचित्र तरीके से मुस्कुराती हुई पलटी। रोने के बाद वह अच्छा दिख रहा था।

'अब चलें?'

'एक बात... एक बात पूछना चाहता हूँ।'

'पूछो।'

'नसर तुम ये सब कह रही हो इसलिए क्या कि तुम मुसलमान हो मैं हिंदू।'

अपनी हिफाजत के सारे गढ़ मेरे टूट चुके थे। अब मैं उसके सामने चेहरा करके खड़ी थी और कोई तैयारी भी नहीं थी मेरी, इस सवाल से टकराने की। मेरे मुँह से बस निकलता गया - 'नहीं इसलिए कि मैं इंसान हूँ। इसलिए कि मैं न एक लड़की की तरह जीना चाहती हूँ, न मुसलमान की तरह। मुझे इंसान की तरह जीना है। जिसके लिए मेरे मन में जो अहसास जागे मैं उसे वही दर्जा देना चाहती हूँ। यह न हो कि मेरे लड़की होने की वजह से या मजहब के चलते उस अहसास को मैं दूसरे खाने में फिट कर दूँ। और तुम यकीन रखना कि मैं दोस्ती का फर्ज अदा करने के रास्ते में इस फरक को नहीं आने दूँगी, जो मुझमें और तुममें है। अब कहो कुछ कहना है?'

'नहीं।'

'चलें?' मैं फिर मुस्करायी।

वह मेरे साथ साथ चलने लगा।

'शिरीष।' मैंने थोड़ी देर चल चुकने पर कहा - 'क्या मेरी बात तुम्हें सच में सही लगी थी?'

'हाँ।'

'तुमने भी ऐसा कुछ सोचा था पहले कभी?'

'नहीं।'

'फिर ठीक।'

उसके बाद मैं बड़ी मुश्किल से उस जगह तक पहुँच सकी जहाँ से हमारे रास्तों को अलग होना था। मैं घर तक आ गयी। वापसी का रास्ता कितने सुकून से कटा। अब भी चारों तरफ वही शोर था, वही बातें थीं, वही लोग थे... दो-चार के झुंड में जुटे। लेकिन उनकी बातों की ओर मेरा ध्यान गया ही नहीं। घर में ऐसे मुझे पहुँची देख कर अम्मी हैरत में पड़ गयीं। जब मैंने सारी बातें उन्हें बतायी तो वो मेरा हाथ पकड़ कर बोलीं - 'अब इधर तुझे वहाँ जाने की जरूरत नहीं। कुछ दिन बाद आगे का देखेंगे।'

मैं थक कर सोफे पर बैठ गयी। बाद के हमारे दिन दूसरे तरीके से गुजरने लगे। हम सुबह से शाम तक टी.वी. की खबरों के सहारे बैठे रहते। अम्मी के एकमुश्त लाकर रख दिये गये सौदे से हम घर का काम निकाल रहे थे। तब हमारी दुनिया बस पत्थर, मस्जिद और भक्तगणों तक सिमट कर रह गयी थी। एक नयी और सुखद बात यह हुई थी कि हम माँ बेटी में बहनापा पनपने लगा था। अम्मी अब उतनी चुप नहीं रहतीं। बल्कि, घटनाओं पर बोलने लगी थीं।

उनकी बातों में एक मुसलमान के अहसास नहीं, एक डरी हुई माँ का खौफ झलकता। उन्हें ये लग गया था कि उनके इस तरह सबसे अलग-थलग रहने वाला जीवन चुन लेने की वजह से मैं अपने रिश्तेदारों की ओर से एकदम ठंडी हो गयी थी। कोई रिश्ता मुझमें हसरत नहीं जगा पाता था। इसलिए भी शायद अम्मी इन दिनों यह कोशिश करने लगी थीं कि... वे मुझे दुबारा उन तक जाने का रास्ता दिखायें। उन्होंने मुझे

अपनी पहचान वालों के किस्से सुनाने शुरू कर दिये थे। लेकिन मेरे भीतर ये किस्से भी कोई हरकत नहीं जगा पा रहे थे। उलटे मेरे भीतर एक किस्म का इंतजार जाग रहा था। यह इंतजार वक्त में आयी उस उथलपुथल के थम जाने का नहीं था, बल्कि किसी और... अलग सी चीज का था। वह क्या थी यह मैं पहले नहीं जान पा रही थी, लेकिन तब जाना जब मेरा इंतजार खत्म हुआ। उस शाम धुँधलका छा जाने पर हमारे दरवाजे पर दस्तक हुई। वह दरवाजा जिसे लोग बहुत कम पीटते थे, उस दरवाजे को छुआ गया तो आवाज थोड़ी ज्यादा शोख निकली। मैं दरवाजा खोलने चली तो अम्मी ने मुझे रोक दिया। अम्मी खुद बड़ी दरवाजे की ओर। अम्मी के चेहरे पर खौफ था। मैंने देखा। मैं बड़ी किचन की तरफ और चाकू उठा लायी। चाकू मेरे पीछे और मैं परदे के पीछे और परदा अम्मी के पीछे। अम्मी ने दरवाजा खोला। तीन लड़के थे... अम्मी के लिए। अतुल, शिरीष और हर्ष थे मेरे लिए। मैं परदे से बाहर आ गयी।

'आप लोग ठीक तो हैं?' किसी ने पूछा।

'हाँ।' मैंने अम्मी से उनकी पहचान करवायी। अम्मी के चेहरे पर तसल्ली थी, शर्म थी, हैरत थी, अजनबीपन था।

'तुम आयी नहीं... कोई खबर नहीं तो हमें लगा...' हर्ष बोला।

'कोई दिक्कत तो नहीं है आंटी?' अतुल ने पूछा।

अम्मी ने अजीब सी झेंपी मुस्कान में कहा - 'नहीं।'

'तुम अभी यूनिवर्सिटी नहीं ही आना।' शिरीष ने कहा।

'यह...' अतुल ने मेरे हाथ में सात कलियों वाला एक बुके दिया।

'चलते हैं...' वे लोग निकल गये। अम्मी ने दरवाजा बंद कर लिया। मैंने उन कलियों को देखा। उनके नीचे अनन्या की राइटिंग में लिखा था - बट... वी हैव टू मीट - 'नासमझ'।

तेज रुलाई उठी और मैंने आँसुओं से उन कलियों को ताजा कर दिया।

फिर कुछ दिनों तक कोई घटना नहीं घट पायी। लोग इंतजार करते रहे... हम भी। माहौल में गरमी थी पर नतीजा कुछ खुल कर आ नहीं पा रहा था। तब अम्मी की

इजाजत से मैं यूनिवर्सिटी चली। वहाँ 'नासमझ' ग्रुप ने मुझे अचानक से आया देखा तो देखता ही रह गया। फिर हमने अपने मिलने का जश्न मनाया और बड़े ढंग से उस दिन को गुजारा। लंच भी तबीयत से किया गया। इस बीच के न मिल पाने ने हमें जोड़ दिया था।

हम हिंदू, मुसलमान नहीं थे... एक ऐसा कुनबा थे... जिसे फिर से... बार-बार मिलना था। मैं ढेर सारी ताजा हवा लेकर बड़ी मस्ती में घर लौटी और अम्मी के गले में बाँहें डाल कर झूल पड़ी। अम्मी के लिए यह अहसास नया ही होगा। लेकिन ऐसी बेतकल्लुफी मैं पहले दिखा नहीं पायी थी। फिर भी इतने दिनों बाद बाहर निकल कर मैं कितनी हल्की हो पायी थी। उस रात अम्मी ने मेरे बालों में तेल लगाते हुए मुझसे मेरे छहों दोस्तों के बारे में इत्मीनान से पूछा। अम्मी ने आगे पूछा - 'क्या कोई मुसलमान तुम्हारे साथ नहीं पढ़ता?'

'पता नहीं...' मैंने पहले कहा। फिर कहा - 'हाँ अम्मी। हैं कुछ। लेकिन मैंने यह जानने की कभी जरूरत नहीं समझी।'

अम्मी चौंकी। मेरी बात से नहीं... समाचार का वक्त खिसकते जाने से। उन्होंने टी.वी. आन कर दिया। परदे पर बाबर जानी की मस्जिद टूटी पड़ी थी। मैंने तारीख याद की। छः दिसंबर.. अम्मी अवाक थीं। टी.वी. के भीतर शोर था। उसके बाहर भी शोर था... अचानक मुझे अहसास हुआ। मैंने दौड़ कर टी. वी. की आवाज धीमी कर दी। सोफे पर बैठ गयी। फिर वे अचानक उठीं और उन्होंने खिड़कियाँ बंद कर बत्तियाँ बुझा दीं। मुझे करंट छू गया।

'अम्मी...' मैं घिघियायी।

'अम्मी ने मुझे अपने से साट लिया। तभी किचन में प्रेशर कूकर ने सीटी मारी तो अम्मी परेशान हो गयीं। हम दोनों ने वह रात धीमी साँसें लेते हुए एक बिस्तर पर गुजार दी। मुझे अफसोस बस इस बात का था कि अब लंबे अरसे तक मैं किसी से मिल नहीं पाऊँगी। जबकि अम्मी की फ्रिक यह थी कि किसी के मिलने की घड़ी तभी तो आएगी, जब हम बच पाएँगे। यह कितना बड़ा सवाल हमारे आगे लिख गया था। हमारे घर में फोन नहीं था और अम्मी अपने नाते वालों को तभी खैर-खबर दे सकती थीं, जब बाहर निकला जाए। बाहर निकलना ही एक सवाल था। अम्मी रात को दरवाजे की छेद से आँखें सटा कर बार बार बाहर झाँकतीं। अम्मी बार-बार अपने से वायदा कर रही थीं कि हालात यदि एक बार सँभल गये तो वे दूसरे मुसलमानों की

तरह इस इलाके को छोड़ कर अपने गढ़ में जा बसेंगी। लेकिन हम बच पाएँगे... सवाल वही था एक।

अगला दिन हुआ। हम दिन तपे वहीं, वैसे ही पड़े रहे। उस रोज न अखबार वाला आया न दूध वाला आया... इधर। हममें हरकत तब हुई जब फिर से दरवाजे पर आहिस्ता दस्तक हुई। फिर चाकू वगैरह लेकर मैं परदे के इस पार रही... और अम्मी उस पार। अम्मी ने सुराखों से झाँका, लेकिन उन्हें कोई निशानी न मिली। वे मेरी ओर पलटीं। तभी दुबारा दस्तक हुई।

'कौन है?' अम्मी का गला धीमा और लड़खड़ाया था।

'शिरीष।'

मैं परदे से बाहर आ गयी और अम्मी पीछे हट गयीं। मैंने दरवाजा खोला। तीनों थे।

'आप लोग चलिए।' शिरीष ने बगैर भूमिका के कहा।

हम दोनों जैसे इसी ताक में थे। हमने नहीं पूछा, कहाँ...। हम दोनों मशीन की तरह मुड़े और हड़बड़-हड़बड़ सामान समेटने लगे। मैं ब्रश कंघी रखती जाऊँ और यह सोचती जाऊँ कि ऐसा होगा ही... क्या मैंने अपने आप को इस हालात के लिए तैयार कर रखा था? और अम्मी? वे किस तेजी से साड़ियाँ समेट रही थीं। उन्हें भी यकीन था... किस पर... मेरे दोस्तों पर? क्या हम लोगों ने इतने अरसे में यही एक रिश्ता कमाया था। दो एयरबैग तैयार थे। अम्मी उनका मुँह ताकने लगीं। उनमें से एक जो था शिरीष, उसकी आँखें भरी थीं। अतुल ने दोनों बैग उठा लिये। मैं निकलती चली आयी। तब देखा अम्मी अपने कंधे पर मेरा दुपट्टा सँभाले दरवाजा बंद कर रही थीं। बिना आहट। अनन्या की गाड़ी थी। हम दोनों पीछे बैठे, साथ अतुल। हम अजीब-शजीब गलियों से गुजरते पहुँचे, जहाँ पहुँचना था। हर्ष सामान उतार कर भीतर घुसा। अम्मी अंदर ही बैठी रहीं। मैंने उतर कर शिरीष को देखा। उसने नजरें झुका लीं।

मैंने अतुल को देखा। उसने मुँह फेर कर सामान उठाने में अपने को व्यस्त कर दिया। भीतर से हर्ष की गाढ़े रंग की माँ निकल कर बाहर तक आयीं। उन्होंने मुझे नजर भर कर देखा। वे अगल-बगल अम्मी को तलाशने लगीं। शिरीष ने गाड़ी का दरवाजा खोल दिया। अम्मी बाहर आयीं। भीतर से निकली माँ ने अम्मी का हाथ पकड़ लिया। अम्मी सर्द थीं। पर माँ की आँखों में अपनी शाखों से उखाड़ कर अलग कर दिये जाने

का दर्द था। बरसों पुराना दर्द जो उस रोज फिर से टीस दे रहा था। भीतर बहुत मेहनत झलक रही थी, जो हमारे लिए की गयी थी। मुझे और अम्मी को बिठाया गया। हमें घेर कर घर के सारे लोग और मेरे तीन दोस्त खड़े हो गये। भगवान की जमीन पर वह मस्जिद हमने नहीं बनायी थी न इन लोगों का कोई हाथ उस मस्जिद को तोड़ने में था। फिर भी हम दोनों खेमे के लोग कतरा कर गुनहगारों की तरह खड़े थे। एक दीवार थी, जो हमेशा से थी। जिसे बीच-बीच के ये वाक्ये और पुख्ता बना रहे थे। वही दीवार हमें एक दूसरे से नजरें नहीं मिलाने दे रही थी। इमारत ही गिरानी थी तो गिराने के लिए यह दीवार ही क्या बुरी थी!

'मैं समझ सकती हूँ।' हर्ष की माँ ने कहा।

'मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा।' अम्मी ने कहा।

हमारे दो रोज यहाँ भी गुजर गये। वे दिन खुशी के खाते में रख दिये जाएँ या गम के। हमारी झिझक को उनके अपनापे ने, बात-बात पर फैलने वाली मुस्कान और धीमी आवाज में चलने वाले किस्सों में बदल दिया था। लेकिन उस घड़ी हममें खौफ समा जाता, जब लाल स्याही वाले अखबार या जलती बस्ती की लपटों वाली टी.वी. की खबरें हमारे सामने आ जातीं यकायक। सुबह शाम शिरीष और अतुल आ जाते। अम्मी अब उन्हें हक से रोकने भी लगी थीं, ऐसे जलते हालात में वहाँ तक दोनों वक्त आने के लिए। तीसरी सुबह दस्तक हुई तो हर्ष की दोनों बहनें दौड़ीं। हर्ष ने उन्हें रोका और दरवाजा खुद खोला। मैं देखती रह गयी और एक हट्टाकट्टा आदमी भीतर घुस गया। उसने हर्ष को धकेल दिया और 'रोशनआरा...' चीखने लगा। यह नाम होश से पहली बार मेरे कानों में गूँजा था। बल्कि पहलेपहल मुझे लगा कि मैंने उस नाम को कहीं सुन रखा था। तब फक्... से दिमाग खुला... अम्मी...।

हर्ष सँभलता कि उस आदमी ने उसे पकड़ लिया और चिल्ला कर कुछ पूछता रहा। उसके साथ के आदमी बरामदे में मुझे नजर आए। तभी अम्मी आर्यीं, कमरे में शोर सुन कर और उस आदमी को देख कर खड़ी रह गयीं। आदमी अम्मी की ओर झपटा। वह अम्मी को जाने क्या-क्या बोलता हुआ खींचने लगा। अम्मी घिसटती हुई, मेरी तरफ देखने लगीं। उसने चिल्ला कर पूछा - 'तेरी लड़की यही है?'

मैंने कहा - 'हाँ' और मैं अम्मी को खींचने लगी।

'चल।' उसने मुझे खींच लिया।

'यहाँ तुम दोनों को सब मार डालेंगे। ये स्या...' उसके बाद वही जानी पहचानी चीजें... मैं सुनती रही... जिन्हें पिछले दिनों यूनियर्सिटी आने जाने में सुनती थी। सब कुछ वही था, बस 'मुसलमानों' की जगह 'हिंदू' चिपका दिया गया था यहाँ। मैं अब एकदम ठंडी हो चुकी थी - अपने मामूजान को पहचान कर। तभी बाहर खड़े लोगों ने अपना काम कर दिया। घर के एक कोने से आग की लपटें उठने लगीं। मैंने उसका हाथ झटक कर कहा - 'नहीं जाना हमें।' वह मुझे अजूबे की तरह देखने लगा। उसने दाँत पीसे और अम्मी से कहा - 'चलो वक्त नहीं है हमारे पास! कैसे कैसे तलाशा है तुम्हारा ठिकाना। इन हरामखोरों के इलाके में हम जान मुट्ठियों में लेकर आए हैं। चल!'

'नहीं जाएँगे हम अम्मी...' मेरे गाल पर करारा चाँटा लगा। मामूजान का।

'निकलो तुम निकलो।' मैं दहाड़ी।

'नसर।'

'अम्मी हम नहीं जाएँगे। हम इनके साथ गये तो इनके लोग इस घर को तबाह कर देंगे, जिसने हमें दो रोज से छत दीया है।' मेरे गालों पर तमाचे पड़ते रहे बेहिसाब। मामूजान मुझ पर चढ़ गये।

'नहीं जाऊँगी नहीं जाऊँगी मैं। जिन लोगों ने हमारी जान बचायी बिना कुछ बूझे... उनके घर में आग लगा सकते हैं तो क्या हमारे जाने के बाद उस घर के लोगों के जिस्म में छुरा नहीं उतार सकते... ये।'

अम्मी दोनों हाथों से चेहरा ढाँप कर वहीं बैठ गयीं। घर जलता जा रहा था सबके सामने और घर के लोग एकदम खड़े थे। तभी बाहर खड़े लोगों में भगदड़ मच गयी।

'मरो तुम दोनों यहीं...' मामूजान दहाड़े उनके साथी उन्हें पकड़ कर ले गये। हिन्दुओं के इलाके में घुस कर इतनी हिम्मत दिखा जाना बहुत था। उनके जाते ही अम्मी को छोड़ कर हम सब आग बुझाने में जुट गये। हर्ष मुझे और अम्मी को लेकर भीतर आने लगा। उसने अम्मी को बेआवाज खींचा। अम्मी बेचारी एक झटके से उबरी भी नहीं कि फिर लड़खड़ाती भागीं। हम दोनों को भंडार में छिपाया गया। अगल-बगल के लोग घर में आ गये। लेकिन आग लगाने वाले कौन थे... क्यों लगी आग... इसका जवाब वे ढूँढ़ नहीं पा रहे थे। अम्मी भंडार में घुटनों पर सिर दिये बैठी थीं, मैं दीवार से सिर टिकाये। हम इंतजार करते रहे। घर के खाली होने का... फिर भंडार के बाहर

से खोले जाने का... फिर... हर्ष की माँ भीतर आयीं। मैं उठी दीवार पकड़ कर। उन्होंने झुक कर अम्मी को पकड़ा। अम्मी ने सिर उठाया और फफक कर रो पड़ीं। अम्मी रोती रहीं। उन्हें जैसे जतन से रोता देख कर किसी को चुप कराने का ख्याल नहीं आया। अम्मी की आँखों से जब कुल मिला कर उतना पानी गिर चुका, जिससे उस घर की आग बुझायी जा सकती थी, तब मैंने अम्मी के कंधे पर हाथ धरा। अब अम्मी इस घर का कर्ज सधा चुकी थीं। मैंने अम्मी को चुप कराया। धीरे-धीरे फिर घर के सारे लोग हमारे साथ जैसे ही हो गये, जैसे उस वाक्ये के पहले थे। शाम को हम टी.वी. देख रहे थे, जब शिरीष और अतुल आए। शिरीष मुझे दूसरे कमरे में ले गया।

'नसर तुमने दोस्ती निभा दी। हमारे रहते तुम्हें कोई नहीं छू सकेगा।'

'शिरीष तुम लोगों ने क्या कम किया है मेरे लिए। मेरे लिए... मैं सोचती हूँ तो...। मैं इतनी अमीर थी, मुझे अहसास ही न था...।'

'अचानक मेरी पलकों में कोई एक आँसू फँस गया... मैंने महसूस किया।

'तुम बहुत अच्छी हो नसर।'

मेरी पलकें झिलमिलायीं।

'बहुत-बहुत अच्छी। नसर एक बात कहूँ?'

'हूँ।'

'प्लीज न मत कहना...! एक हसरत है, बस एक... प्लीज नसर।'

'कहो।'

'मैं एक बार तुम्हारी पलकें चूमना चाहता हूँ, बस एक...'

पलकों ने उस आँसू को आजाद कर दिया। वो मेरे गाल पर फिसल गया - 'शि...'

अतुल और हर्ष कमरे में घुसे।

'शिरीष आगे की कुछ प्लैनिंग कर लेते हैं।' अतुल ने कहा।

'कल से आंटी और नसर को मेरे घर शिफ्ट कर देंगे।' शिरीष ने कहा।

'यहाँ कोई प्राब्लम अब नहीं होगी।'

'नहीं हर्ष। यहाँ अब खतरा है। दोनों परिवारों को।'

'मेरा इलाका सेफ नहीं है...!' अतुल की आवाज लड़खड़ा गयी।

'ज्योति...'

'मेरे साथ रहेंगे ये लोग बस।'

'नो शिरीष। आंटी के आने के बाद! ज्योति का घर सही है तब तक।' अतुल ने कहा।

'तुम क्यों नहीं कुछ कहती?' हर्ष ने मुझसे कहा।

'मैं क्या कहूँ... तुम सबको आफत में डाल रखा है। मैं क्या कहूँ?'

'क्या लड़कियों की तरह रोना शुरू कर दिया?' अतुल ने मुझे डाँटने की कोशिश की या हँसाने की?

'चुप हो जाओ नसर...! अच्छी बच्ची... देखो बाबू।'

शिरीष ने मुझे बहलाने की कोशिश की या दुलारने की?

हर्ष ने मेरी हथेली को जोर से पकड़ लिया। उसने मेरी पीठ थपथपायी। उसने मुझे ढाँढ़स बँधाने की कोशिश की या दिलेर बनाने की...।

फिर फाइनल रहा ज्योति का घर। अभी हम दोनों निकलते हैं... ज्योति के घर। फिर हम आएँगे। आज ही शिफ्ट करना होगा।'

'आज...' मैं और हर्ष साथ साथ चौंके।

'नहीं कल।' शिरीष ने कहा - 'चल अतुल। हर्ष।'

वे तीनों निकले। मैं कमरे में अकेली बची। कुछ लम्हे बीते मेरे में हसरत जागी कि मैं उन दोनों को जाता हुआ देखूँ... मैं झपट कर बाहर निकलने लगी। घर के दरवाजे पर मेरे पैरों ने अपने को रोक लिया... कानों के इशारे पर। अतुल था... अब रोया कि तब रोया... 'अम्मी, डैडी मानते नहीं। डैडी तो फिर भी। अम्मी एकदम नहीं। कहती हैं - तू घर से बाहर चला जा, बर्दाश्त कर लूँगी...'

'अतुल ठीक है न...।' हर्ष, गाड़ी नहीं आएगी... अनन्या की। वह घर में सबको राजी नहीं कर पायी।' शिरीष की बुदबुदाहट खो रही थी। फिर फिर फिर। मैंने हिम्मत करके झाँका। हर्ष बरामदे में बैठा था। दो लोग नहीं थे...।

तो वह उस घर की मेरी आखिरी रात थी। ठंडी और बेरहम। मेरी हसरत थी कि हर्ष के साथ थोड़ी तनहाई पा जाऊँ। मैंने ऐसा ही किया। रात ढलते ही खा पीकर सारे लोग दुबकने लगे। तब मैं अम्मी से इजाजत लेकर आयी और मैंने हर्ष से उसका साथ माँगा। हम दोनों ड्राइंगरूम के कोने में ही बैठे। मैं सोफे पर पैर ऊपर करके उकडूँ, और वह भले इंसानों की तरह।

'हर्ष अच्छा ही हुआ, मैं नासमझ की मेंबर रही। मेरे होने से कितने अमीर हुए तुम अहसासों के मामले में!'

'क्या तुम्हें बुरा लगा था... या डर जैसा कुछ...'

'क्या...?'

'अकेली पड़ जाने पर?'

'नहीं। क्योंकि मैंने ये सोचना शुरू कर दिया... जैसे मैं, मैं होऊँ ही न, कोई और होऊँ। अपनी रूह से अपना बोझ उतार दिया... बस।' मैं मुस्कुरायी।

'गुड! दुनिया में सबको एक न एक बार ऐसा लगता है कि वह अकेला रह गया है। यह अकेलापन दरअसल अपने आप के होने का बोध है। एसेंस आफ आइडेंटिफिकेशन। ये एक जरूरी फेज है। बेहद जरूरी। तुम जिससे गुजर रही हो।'

'गुजर चुकी हूँ।' मैंने कहा।

'गुजर चुकी हो।' हर्ष मुस्कुराया।

'नसर जाने क्यों, अभी ऐसा लग रहा है जैसे हम कभी मिलेंगे ही नहीं।'

मैं हँस पड़ी - 'कौन मारा जाएगा - तुम या मैं'

'अगर मरना ही तय है तो दोनों मरें - क्यों?' हर्ष ने कहा।

'नहीं! मैं नहीं मरती... और तुम भी बच जाओगे... हैव टू मीट- नासमझ!'

'तुम नासमझ!'

'ग्रुप के सारे लोग अभी यहाँ होते तो कितनी मस्ती आती।'

'जो जहाँ रहें वहीं मस्त रहें।' मेरी आँखें छलक आयीं फिर से।

'कम आन नसर।' हर्ष ने उसे नोटिस कर लिया, 'चलो सो जाओ! आखिरी रात तो यहाँ पर चैन से सोओ! चलो।' उसने मुझे उठाते हुए कहा।

'नहीं अभी नहीं। बैठो न...! अच्छा चलो!'

'बैठना है?'

'नहीं चलो...'

अगला दिन बगैर किसी घटना के निकल गया। शाम आ गयी तो हमने सामान बैग में भर लिये। अँधेरा होते ही अतुल और शिरीष आ गये। हमारा दिन जैसे चुपचाप गुजरा था, ठीक उसके विपरीत शहर के हालात थे। हिंदू, मुसलमान दो साफ खेमों में बँट चुके थे और किसी समय कुछ भी हो सकता था। छुप छिपा कर हमारी जगह बदल दी गयी। ज्योति के घर। यहाँ सब लोग हमसे भी ज्यादा खौफ खाये थे। अम्मी के चेहरे पर स्याही पुती थी, जो ताजा-ताजा हुई घटना की परछाई थी। जब हम हर्ष के घर से चल रहे थे, तो अम्मी ने भरे गले से हर्ष की माँ से कहा था - 'खता हुई हो हमसे जाने अनजाने तो माफ करेंगी।' तब हर्ष की माँ की आँखें चमकी थीं। वे बोलीं - 'भूल-चूक अपनों के साथ ही होती है। दूसरों के सामने तो आदमी सँभल कर रहता है।'

ये क्या होता जा रहा था मुझे... एक पल जोश लेकर उठती थी कि इस मुसीबत का जैसे बन पड़े, सामना करना था और जीत कर ही निकलना था यहाँ से... दूसरे लम्हे जिंदगी लुटा देने लायक चीज लगने लगती। इस दर दर की भटकन से अपने घर की घुटन क्या बुरी थी! हम तक आता ही कौन! हमें मार कर किसी को क्या हासिल होता? किसी को भी मार कर किसी को क्या हासिल होता है? वही हमें भी मार कर होता! बात इतनी आसान और सुलझी हुई थी! ज्योति का बेआधार परिवार। बिस्तर पर पड़ी माँ, छोटे भाई बहन। इन्हें देखते ही मुझे लगा कि हम ज्यादाती कर रहे थे। मैंने आहिस्ता आहिस्ता शिरीष से कहा - 'हम घर ही चले चलते...'

'बस आज की रात। वह भी आधी। सुबह चार बजे ही तुम्हारी ट्रेन है।'

'ट्रेन'

'ये टिकट। तुम मेरे भाई के घर जा रही हो। माँ वहीं हैं। सारा इंतजाम हो गया है। वहाँ शांति है। स्टेशन से तुम लोगों को भड़िया आकर ले जाएँगे। यहाँ जब शांति हो जाएगी, तभी आप लौटेंगी आंटी।' शिरीष ने अम्मी से मुखातिब होते हुए हमें हमारा अगला पता बताया। अम्मी के चेहरे पर सुकून दिखा। ज्योति के भाई-बहन हमें घर कर बैठ गये। हम माँ-बेटी चिड़ियाखाना के जानवरों से सिकुड़े बैठे थे। शिरीष जाने लगा तो मैं उठी। उसने जाते-जाते अम्मी से कहा - 'हम सुबह आएँगे चार बजे। तैयार रहिएगा।' जब वह चलने लगा तो मैंने धीमे से कहा - 'तुम अच्छे हो, लेकिन मुझसे ज्यादा नहीं।'

उसने सिर झुका लिया और बाहर निकल गया बगैर देखे। अम्मी से खाने का इसरार किया गया, पर वे एक दो कौर में रस्म अदा कर लिहाफ में घुस गयीं। ज्योति ने झटपट भाई बहनों को खिलाया। अपनी माँ को अच्छी तरह से ढँक आयी। उनकी तबीयत दोपहर से बिगड़ गयी थी और हमारे आने के पहले से ही वे सो रही थीं। उन्हें मालूम भी नहीं हो पाएगा और हम आकर चले भी जाएँगे... उसे इस बात का बड़ा अफसोस था। ज्योति फिर पिता का बिस्तर वगैरह लगाने चली। घर के भीतर जगह नहीं बची थी कुछ भी, तो घर के बाहर। भयानक शर्मिंदगी हुई। मैं खिड़की के बाहर ज्योति को बिस्तर लगाते देखती रही। अंकल चादर बिछवाने में मदद कर रहे थे। ज्योति चलने लगी, तो अंकल ने डरी हुई आँखों से पूछा, 'जाएँगे कब ये?' ज्योति की आँखों में मेरी आने वाली जिंदगी की रूह काँप गयी।

'सुबह...।' उसके अल्फाज बिखर गये...।

मैंने ज्योति की गोद में सिर रखा और आँखें बंद कर लीं। उसने दो खत मेरे आगे कर दिये। एक लिफाफे वाला। दूसरा उघड़ा। कागज की नस्ल देख कर ही लगता था कि दोनों ताजा थे। मैंने आँखें मूंद कर दोनों में से एक को उठाया। बिना लिफाफे वाला खत उठ कर आ गया मेरे हाथ में। यूनिवर्सिटी से घर लौटने के रास्ते में आँखें बंद करवा कर मनी की एक उँगली चुनवाने की अदा याद आ गयी। मैंने खत की तह खोली तो वह मनी का ही था।... पहले मेरा हाल, फिर अम्मी का... फिर मुहल्ले की गर्म हवा, फिर मिलने की तमन्ना, फिर... जिसका इंतजार करती थी, वह खत नहीं आया। खत लिखने वाला खुद आया! उसकी अहसानमंद हूँ। उसने मुझे कामना बनने से बचा लिया। वह मेरी जिंदगी से दूर जा चुका है। अब जब हम मिलेंगे... तुम्हारे

किसी सवाल के जवाब में मैं... मैं कामना जैसी किस्मतवाली कहाँ... ऐसा कुछ नहीं कहूँगी। जल्दी मिलना नसर...।'

बस मेरे हाथ से कागज नीचे निकल गया। मैंने ज्योति को देखा। उसने मुझे। मैंने लिफाफा फाड़ दिया। अनन्या - 'जिस लड़के को मैंने खून दिया था, उसने कल शहर के दंगे में अपने दो मुसलमान दोस्तों को मार डाला। मुझे माफ कर देना नसर...' मैंने साँसें खींच लीं। मेरी पलकें... मैंने एक बार जोर से... बगैर परदा... रो देने को मुँह बनाया लेकिन रुलाई आयी नहीं। हाँ। ज्योति ने मुझे पकड़ा - 'नसर हम सब तुम्हें बहुत चाहते हैं। सब ठीक हो जाएगा। हम फिर पहले की तरह... हम तुम्हें कभी नहीं गँवा सकते।'

ये लम्हा कितना सुकून पहुँचाने वाला था। आह! अल्लाह मरने की सही घड़ी चुनने को कहता तो शायद मैं इसे ही चुनती। मरना उसी घड़ी जब जीने की सबसे ज्यादा चाह जगे... मैं नींद में उतरने लगी...।

मेरी आँखें खुलीं और मुझे लगा कि मैंने कुछ गँवा दिया है। मैं सँभला और बेतहाशा हर्ष के घर की ओर भागा। आधे रास्ते पर मुझे याद आया कि मुझे तो ज्योति के घर जाना चाहिए था... अतुल को भी साथ लेने की बात थी। मुझे कुछ नहीं सूझा। घड़ी देखी। साढ़े तीन। मैं बगैर अतुल को लिए या हर्ष को लिए ज्योति के घर की ओर भागा। मैं क्यों भाग रहा था, खुद मुझे पता न था। मैं पहुँचा। मैंने देखा - घर शांत पड़ा था। मुझे सुकून हुआ। मैंने स्थिर होकर साँसों को सामान्य किया। मैं तब चला दरवाजा थपथपाने। वे लोग तैयार थे कि नहीं...। बरामदे पर अंकल का बिस्तर बिछा था। दरवाजा बंद था घर का। मैंने दरवाजे पर दस्तक दी। दरवाजा खुल गया। मेरी कुछ समझ में न आया। बस दस्तक देने से दरवाजा कैसे खुल सकता था। अंकल बाहर सोये थे तो दरवाजा खुला छोड़ दिया...। तभी मेरी बुद्धि खुली और मैं बेतहाशा - 'नसर... नसर... ज्योति' चिल्लाने लगा। घर के लोग नींद से हड़बड़ा कर जागे। स्विच किसी को मिल नहीं रहा था। फिर किसी ने बत्ती जलायी।

मैंने उन लोगों में से ज्योति को चुन कर निकाला - 'नसर'

'क्या नसर?'

'नसर कहाँ हैं?'

ज्योति का मुँह खुला रह गया। सबने रजाइयाँ उठा कर फेंकनी शुरू कर दी।

'आंटी...'

वे होतीं न मिलतीं।

'यहीं तो थीं...!' ज्योति ने तकिया टटोला - चद्दर भी।

मुझे तकिये के नीचे कुछ दिखा। मैं झपटा उस पर - 'शिरीष के लिए...।' मैंने ज्योति को देखा।

मैंने लिफाफा फाड़ना शुरू किया। लिफाफा फटा। हमने भीतर झाँका।

'कुछ नहीं... खाली लिफाफा!' ज्योति के होंठ थरथरा रहे थे। मुझे उस लिफाफे में कुछ दिख गया था। लिफाफा खाली नहीं था। उसमें... उसमें नसर की पलक थी!!! एक साबुत पलक। मैंने लिफाफे को शर्ट की जेब में रख लिया और लेट गया।

पलकों के बारे में सुना है कि वे एक खास तयशुदा कतार में रहा करती हैं। ये भी कि वे एक निश्चित सीमा के बाद आगे नहीं बढ़तीं। और जब वे उस तयशुदा जगह और दायरे से बाहर अपनी शख्सियत तलाशना चाहती हैं, तो उन्हें टूटना होता है। और ऐसी ही कोई टूटी पलक यदि आँखों के बीचोंबीच आ गिरे तो सारा समीकरण बिगड़ जाता है और इनकी जरा-सी मौजूदगी भी बड़े से बड़े वजूद को हिला देती है। नसरीन अख्तर कहीं तुम मेरे पूरे समय की आँखों में पड़ी वही पलक भर छटपटाहट तो नहीं!!!

'कहाँ छुपा लिया तुमने अपने आप को?' मैं कहता रहा।

'क्या दुनिया इतनी बड़ी है कि उसमें अपने आपको छुपा लिया जाए।'

मेरी आँखों से ढल-ढल बूँदें ढलीं। तुम्हारे बगैर देखो... नसर ये सब सीख चुका हूँ। तुम्हारी बात भी करना, अपनी बात भी करना। सवाल-जवाबों का दौर। अब अकेला दोनों की पारियाँ खेलता हूँ -

'क्या आधी रात में इस तरह जाना जरूरी था नसर?'

'हमेशा से ऐसा होता आया है, जिसे कुछ हासिल करना हो... जिसके सामने मकसद बड़ा हो... उसे आधी रात को ही निकलना होता है... उस समय जबकि उसकी दुनिया सबसे सुखी हो...।'

'क्या तुम्हारी राह देखी जाए? उड़ चुके परिंदों का इंतजार सही है क्या?'

'इंतजार अल्जाफ किसी सही-बेसही की हद में नहीं बाँधता अपने को।'

पलकों के बारे में यह भी सुना है कि अगर उन्हें बंद मुट्ठी के ऊपर रख दिया जाए... आँखें बंद करके कोई मुराद माँगते हुए फूँक कर उड़ा दिया जाए... और आँखें खोलने पर पलक मुट्ठी पर ना मिले तो माँगी गयी मुराद पूरी हो जाती है।

मैंने बंद मुट्ठी पर उस पलक को रखा। आँखें बंद कीं...

'तुम क्या पाकर लौटोगी नसर?'

'पाकर नहीं... खोकर। वह खौफ... जो मुझे इंसान की तरह जीने नहीं देता था, हमेशा एक औरत... एक मुसलमान बना डालने की धौंस देता था... उस खौफ को खोकर... अब लौटना होगा।'

